बिहार राज्य और एक अन्य

बनाम

बाल मुकुंद साह और अन्य

14 मार्च, 2000

[एस. बी. मजमूदार, जी. बी. पटनायक, वी. एन. खरे, आर. पी. सेठी और उमेश सी. बनर्जी, न्यायमूर्तिगण]

भारत का संविधान, अनुच्छेद 233, 234, 235 तथा 309 — बिहार पदों एवं सेवाओं में रिक्तियों का आरक्षण (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ा वर्गों के लिए) अधिनियम, 1991, धारा 4 — बिहार में जिला एवं अधीनस्थ न्यायाधीशों के पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती हेतु आरक्षण प्रदान करने वाला अधिनियम — इसकी वैधता — अभिनिर्धारित : अधिनियम की धारा 4, अधीनस्थ न्यायपालिका पर उसके अनुप्रयोग की सीमा तक, भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 एवं 234 के प्रतिकूल होने के कारण अधिकारातीत है और इसे विधिसम्मत नहीं ठहराया जा सकता — बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली, 1955।

बिहार पदों एवं सेवाओं में रिक्तियों का आरक्षण (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ा वर्गों के लिए) अधिनियम, 1991, धाराएँ 2(सी), 2(एन) तथा 4 — अभिनिर्धारित : यद्यपि अधिनियम अपने स्वरूप में न्यायिक सेवा पर भी लागू होता है, तथापि धारा 4 द्वारा प्रदत्त आरक्षण जिला एवं अधीनस्थ न्यायाधीशों के संवर्ग में प्रत्यक्ष भर्ती पर लागू नहीं होगा; अधीनस्थ न्यायाधीशों के संवर्ग में आरक्षित पदों की पूर्ति का प्रश्न अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति अभ्यर्थियों के लिए बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती)

नियमावली, 1955 के अनुसार निर्धारित 24 प्रतिशत की सीमा तक ही प्रासंगिक रहेगा — भारत का संविधान, अनुच्छेद 14, 16(4) तथा 16(4-ए)।

भारत का संविधान, अनुच्छेद 235 तथा अनुच्छेद 309 के परंतुक को सूची-II की प्रविष्टि 41 तथा सूची-III की प्रविष्टि 11-ए के साथ पठित किया जाए — न्यायिक अधिकारियों के संबंध में राज्य की विधायी शक्ति — अभिनिर्धारित : अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग केवल सेवा की शर्तों से संबंधित विधिनिर्माण की अनुमति देता है; न्यायिक अधिकारियों की भर्ती की प्रक्रिया अथवा भर्ती में आरक्षण प्रदान करने के संबंध में नहीं।

भारत का संविधान, अनुच्छेद 234 तथा 320 — परामर्श — आधारभूत स्तर पर न्यायिक अधिकारियों की प्रत्यक्ष भर्ती हेतु उच्च न्यायालय से परामर्श अनिवार्य पूर्वशर्त है; यह लोक सेवा आयोग से परामर्श की अपेक्षा पूर्णतः भिन्न स्तर पर स्थित है।

शब्द एवं पदबंध — 'विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के मध्य शक्तियों का पृथक्करण' — 'स्वतंत्र न्यायपालिका' — अभिनिर्धारित : ये दोनों सिद्धांत अब संविधान की मूल संरचना के स्तर तक उन्नत हो चुके हैं तथा संवैधानिक व्यवस्था के मूल हृदय का निर्माण करते हैं — विधियों की व्याख्या।

बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा नियमावली, 1951 (जिसे आगे '1951 नियमावली' कहा गया है), जो बिहार के राज्यपाल द्वारा संविधान के अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन तथा पटना उच्च न्यायालय से परामर्श करके बनाई गई थी, उसमें जिला न्यायाधीशों के संवर्ग में भर्ती हेतु किसी आरक्षण का प्रावधान नहीं था। बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली, 1955 (जिसे आगे '1955 नियमावली' कहा गया है), जो बिहार के राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श कर बनाई गई थी, उसमें अधीनस्थ न्यायपालिका के प्रारंभिक स्तर पर अनुसूचित जाति अभ्यर्थियों हेतु 14 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति अभ्यर्थियों हेतु 10 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान था।

चूँकि उच्च न्यायालय ने जिला एवं अधीनस्थ न्यायाधीशों के पदों पर आरक्षण प्रदान करने के संबंध में राज्य प्राधिकारियों के सुझाव से सहमति व्यक्त नहीं की थी, इसलिए बिहार के राज्यपाल ने एक अध्यादेश जारी किया, जिसे बाद में बिहार पदों एवं सेवाओं में रिक्तियों का आरक्षण (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ा वर्गों के लिए) अधिनियम, 1991 (जिसे आगे 'अधिनियम' कहा गया है) द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरे जाने वाले 50 प्रतिशत पद अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ा वर्गों के लिए आरक्षित किए जाने थे। उच्च न्यायालय ने पुनः अपना यह मत दोहराया कि जिला न्यायाधीशों के पदों पर भर्ती केवल 1951 नियमावली के अनुसार ही की जा सकती है। साथ ही राज्य को सूचित किया कि अधिवक्ता वर्ग से प्रत्यक्ष भर्ती करते समय, यदि अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थी सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों के समान योग्यता रखते हों, तो उन्हें प्राथमिकता दी जा सकती है। इसके बावजूद, राज्य सरकार ने 16 जून 1994 को एक विज्ञापन जारी किया, जिसके अनुसार जिला न्यायाधीशों के 54 रिक्त पदों में से 27 पद आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों से भरे जाने थे।

उक्त विज्ञापन तथा अधिनियम को चुनौती देने वाली विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाओं पर, उच्च न्यायालय की खंड पीठ ने विज्ञापन की शर्तों को संविधान के अनुच्छेद 233 के *अधिकारातीत* होने के कारण निरस्त कर दिया। साथ ही, जहाँ तक अधिनियम अन्य न्यायिक पदों की भर्ती में आरक्षण लागू करता था, उसे संविधान के अनुच्छेद 234 के *अधिकारातीत* घोषित किया गया। इसके पश्चात राज्य ने इस न्यायालय में अपील की।

अपीलकर्ता का तर्क था कि न्यायिक सेवा के पदों में आरक्षण प्रदान करने हेतु विधि बनाने की राज्य की शक्ति, संविधान के अनुच्छेद 233 से 235 द्वारा निषिद्ध नहीं है। उसकी विधायी शक्ति संविधान के अनुच्छेद 16(4) तथा 309 को सप्तम अनुसूची की सूची-II की प्रविष्टि 41 तथा सूची-III की प्रविष्टि 11-ए के साथ सामूहिक रूप से पढ़ने से प्राप्त होती है।

अनुच्छेद 234 केवल राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति को सीमित करता है, राज्य की विधायी शक्ति को नहीं। यह भी तर्क दिया गया कि संवर्गों की स्थापना एवं पदों का सृजन भर्ती से पूर्व की अवस्था है और यह पूर्णतः राज्य के विशेष अधिकार क्षेत्र में आता है। उच्च न्यायालय की ओर से यह प्रतिवाद किया गया कि अनुच्छेद 309 तथा उसके अधीन राज्य की विधायी शक्ति का अधीनस्थ न्यायपालिका पर कोई अनुप्रयोग नहीं है। यह शक्ति संविधान के अनुच्छेद 233 से 235 द्वारा निष्कासित कर दी गई है, क्योंकि ये अनुच्छेद अपने आप में एक पूर्ण विधिक संहिता का निर्माण करते हैं। अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग राज्य को केवल पहले से नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु ही विधिनिर्माण की अनुमति देता है।

अपीलों को बहुमत से निरस्त करते हुए न्यायालय ने

अभिनिर्धारित किया : *मजमूदार, न्यायमूर्ति के अनुसार :* 1.1. बिहार पदों एवं सेवाओं में रिक्तियों का आरक्षण (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ा वर्ग) अधिनियम, 1991 की धारा 4, *अधिकारातीत* है तथा संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 की योजना से प्रत्यक्ष टकराव में है। [370 - जी]

1.2. अनुच्छेद 233 तथा 234 जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के प्रारंभिक स्तर के न्यायाधीशों की भर्ती एवं नियुक्ति के संपूर्ण क्षेत्र को आच्छादित करते हैं। इस क्षेत्र में राज्य की विधायी शक्ति संविधान की योजना द्वारा स्वयं ही निष्कासित कर दी गई है। अनुच्छेद 309 तथा 245 दोनों को अनुच्छेद 233 और 234 के अधीन पढ़ा जाना आवश्यक है। [337 - डी]

1.3. उच्च न्यायालय की संस्तुति के बिना राज्यपाल द्वारा जिला न्यायाधीश के पद पर कोई भर्ती नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अधीनस्थ न्यायपालिका के प्रारंभिक स्तर पर नियुक्तियाँ भी राज्यपाल द्वारा तभी की जा सकती हैं जब वे उसके द्वारा उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करके निर्मित नियमों के अनुसार की जाएँ। कोई भी वैधानिक

प्रावधान, जो उच्च न्यायालय से परामर्श की अनदेखी करे और विधिक आदेश के माध्यम से ऐसी बाध्यता आरोपित करे, जैसा कि अधिनियम की धारा 4 के अधिनियमन द्वारा करने का प्रयास किया गया, वह जिला एवं अधीनस्थ न्यायपालिका के पदों पर भर्ती एवं नियुक्ति संबंधी पूर्ण विधिक व्यवस्था से प्रत्यक्षतः टकराव में है।" [337 - बी. सी.]

1.4. आरक्षण प्रदान करना भर्ती और नियुक्ति के चरण का पूर्ववर्ती चरण नहीं था। [344 - ए-बी]

2.1. इस अधिनियम में राज्य की न्यायिक सेवा शामिल थी। आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 जिला न्यायाधीशों के संवर्ग तथा जिला न्यायाधीशों के अधीनस्थ न्यायिक संवर्ग में भर्ती एवं नियुक्तियों के विनियमन हेतु लागू नहीं होगी। ऐसी नियुक्तियाँ क्रमशः बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा नियमावली, 1951 तथा बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली, 1955 द्वारा ही कठोरतापूर्वक नियंत्रित होंगी। प्रारंभिक स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती के विनियमन हेतु अनुसूचित जाति अभ्यर्थियों के लिए 14 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति अभ्यर्थियों के लिए 10 प्रतिशत आरक्षण, जैसा कि 1955 की नियमावली में उपबंधित है, लागू रहेगा; जब तक कि अनुच्छेद 234 को अनुच्छेद 309 के साथ पठित करते हुए, राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से प्रभावी परामर्श के उपरांत संबंधित नियमों में संशोधन कर कोई अन्य आरक्षण योजना अधिसूचित न कर दी जाए। [373 – ए- बी]

2.2. अनुच्छेद 16(1) तथा 16(4) के अंतर्गत परिकल्पित आरक्षण योजना का निर्माण करते समय अनुच्छेद 335 को पूर्ण प्रभाव दिया जाना आवश्यक है। अतः अनुच्छेद 235 के अधीन अधीनस्थ न्यायपालिका पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना अनिवार्य था और उसे आक्षेपित वैधानिक प्रावधान द्वारा परिकल्पित इस प्रक्रिया में बाहरी व्यक्ति के समान नहीं माना जा सकता था। [340 - डी-ई]

2.3. उच्च न्यायालय की सहमति और परामर्श के बिना, तथा केवल विधायी प्रावधान के बल पर यह निर्देश देना कि जिला न्यायाधीशों के संवर्ग अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका के

न्यायाधीशों के संवर्ग में उपलब्ध 50 प्रतिशत रिक्तियाँ केवल आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों से भरी जाएँगी, *स्पष्टतः* उच्च न्यायालय की उस शक्ति का अतिक्रमण होगा जिसके अंतर्गत वही अनुच्छेद 233 के अनुसार जिला न्यायाधीश संवर्ग की सभी रिक्तियों को भरने की संस्तुति कर सकता है; और समान रूप से यह अनुच्छेद 234 के अंतर्गत राज्यपाल को अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती हेतु नियम निर्माण करते समय प्रभावी परामर्श प्रदान करने की उच्च न्यायालय की शक्ति का भी उल्लंघन होगा। [341 – ई- एफ]

2.4. यदि अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत किसी आरक्षण नीति का अनुसरण किया जाना हो, तो उसका क्रियान्वयन अनुच्छेद 233 और 234 की संवैधानिक योजना के अनुरूप होना चाहिए, न कि उससे पृथक। प्रवेश स्तरों पर आरक्षण की सीमा के संबंध में अनुमति प्रदान करने का अधिकार केवल उच्च न्यायालय को है, क्योंकि जिला न्यायपालिका की न्यायिक सेवा में — चाहे उच्चतम स्तर पर हो अथवा प्रारंभिक स्तर पर — आरक्षित पदों पर प्रवेश करने वाले अभ्यर्थियों को उसके नियंत्रण के अधीन कार्य करना होता है। उच्च न्यायालय द्वारा ऐसी स्वीकृति प्रदान किए बिना, अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 335 के साथ पठित करते हुए लागू करने का कोई अवसर उत्पन्न नहीं होता। [352 – बी- एच]

2.5. न तो प्रारंभिक स्तर, अर्थात अधीनस्थ न्यायपालिका में प्रवेश के आधारभूत स्तर पर, और न ही पिरामिड के सर्वोच्च प्रवेश स्तर पर जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संदर्भ में, राज्य विधानमंडल के किसी हस्तक्षेप की कल्पना की गई है अथवा उसे मान्यता प्रदान की गई है। इसके विपरीत, आवश्यक निहितार्थ से ऐसा हस्तक्षेप निषिद्ध माना गया है। [350 – जी]

इंद्र साहनी बनाम भारत संघ, [1992] पूरक 3 एस. सी. सी. 217; *इंद्र साहनी बनाम भारत संघ,* [2000] 1 एस. सी. सी. 168; *दुर्गाचरण मिश्रा बनाम उड़ीसा राज्य,* [1987] 4 एस. सी. सी. 646; *डॉ. प्रीति श्रीवास्तव बनाम मध्य प्रदेश राज्य,* [1999] 7 एस. सी. सी. 120 ; *समशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य,* ए. आई. आर. (1974) एस. सी. 2192; *एम. एम.*

गुप्ता बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य, (1982) 3 एस. एस. सी. 412; *अखिल भारतीय न्यायाधीश संघ बनाम भारत संघ,* ए. आई. आर. (1993) एस. सी. 2493; *सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ,* ए. आई. आर. (1994) एस. सी. 268 *और द बेलसुंड शुगर कंपनी एच. लिमिटेड बनाम बिहार राज्य,* जे. टी. (1999) 5 एस. सी. 422 *को संदर्भित किया गया ।*

के. एन. चंद्र शेखर बनाम मैसूर राज्य, ए. आई. आर. (1963) मैसूर 292; *एम. आई. नदाफ बनाम मैसूर राज्य,* ए. आई. आर. (1967) मैसूर *77*; *मनोज कुमार पांडा बनाम उड़ीसा राज्य,* (1982) प्रयोगशाला आई. सी. 1826 और *फरज़ंद बनाम मोहन सिंह,* ए. आई. आर. (1968) सभी 67, स्वीकृत।

3.1. अनुच्छेद 235 द्वितीय भाग द्वारा निर्धारित कानून द्वारा सेवा की शर्तों को किस हद तक विनियमित किया जा सकता है, विधायी खेल के लिए एक सीमित क्षेत्र खुला रखा गया था। लेकिन यह भर्ती या नियुक्तियों से बिल्कुल भी संबंधित नहीं था। [350 - ई]

3.2. अनुच्छेद 235 द्वारा जो अनुमति प्रदान की गई है, उसे ऐसा व्यापक एवं निरपेक्ष अधिकार नहीं माना जा सकता जो संविधान-निर्माताओं द्वारा अनुच्छेद 309 के अधीन विधानमंडल अथवा राज्यपाल को, अनुच्छेद 233 और 234 के अंतर्गत जिला एवं अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती तथा नियुक्ति को नियंत्रित करने वाली संपूर्ण संवैधानिक योजना से *अप्रासंगिक* सौंप दिया गया हो। [348 - ए, बी]

बी. एस. यादव बनाम हरियाणा राज्य, [1981] 1 एस. सी. आर. 1024, का स्पष्टीकरण किया गया।

4.1. आधारभूत स्तर अर्थात मुंसिफों एवं दंडाधिकारियों जैसे न्यायिक अधिकारियों की प्रत्यक्ष भर्ती के लिए, जिसकी भर्ती अनुच्छेद 234 के अधीन निर्मित 1955 नियमावली द्वारा शासित थी, उच्च न्यायालय से परामर्श *अनिवार्य पूर्वशर्त* था। [344 - डी]

4.2. परामर्श, अनुच्छेद 235 के साथ पठित अनुच्छेद 234 के तहत उच्च न्यायालय की भूमिका को ध्यान में रखते हुए, लोक सेवा आयोग के साथ परामर्श की तुलना में पूरी तरह से अलग आधार पर खड़ा था, जिसे संविधान के अनुच्छेद 320 द्वारा परिकल्पित पूरी तरह से अलग प्रकार के अपने कार्यों का निर्वहन करना था। [354 – ई]

4.3. उच्च न्यायालय से परामर्श के संबंध में ऐसा कोई स्पष्ट प्रतिबंध नहीं है जो अनुच्छेद 320(4) की भाँति अनुच्छेद 16(4) के प्रयोग को अपवर्जित करता हो। अतः अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत नीतिगत निर्णय राज्यपाल द्वारा, उच्च न्यायालय से परामर्श करके, न्यायिक सेवा में भर्ती एवं नियुक्तियों को नियंत्रित करने वाले उपयुक्त नियम बनाते समय लिया जाना चाहिए — चाहे वह सर्वोच्च प्रवेश स्तर हो अथवा आधारभूत स्तर। [354 - जी-एच, 355-ए]

4.4. विधानमंडल किसी अप्रत्यक्ष उपाय द्वारा संविधान-निर्माताओं द्वारा परिकल्पित जिला न्यायपालिका की भर्ती एवं नियुक्ति की योजना को दरकिनार नहीं कर सकता। ऐसा प्रयास न केवल संवैधानिक योजना द्वारा पूर्णतः निषिद्ध है, बल्कि वह 'विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के मध्य शक्तियों के पृथक्करण' तथा 'स्वतंत्र न्यायपालिका' की अवधारणाओं के भी प्रतिकूल होगा। [331 - ई, एफ]

एम. एम. गुप्ता बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य, **(1982) 3 एस. एस. सी. 412;** *केरल राज्य बनाम श्रीमती. ए. लक्ष्मीकुट्टी,* **[1986] 4 एस. सी. सी. 632;** *परम पूज्य केशवानंद भारती श्रीपदगलवरु बनाम केरल राज्य,* **[1973] 4 एस. सी. सी. 255;** *पंजीयक (प्रशासन), उड़ीसा उच्च न्यायालय, कटक बनाम सिसिर कांता सतपथी (मृत) अधिवक्ताओं द्वारा,* **[1999] 7 एस. सी. सी. 725;** *अखिल भारतीय न्यायाधीश, एसोसिएशन बनाम भारत संघ,* **ए. आई. आर. (1993) एस. सी. 2493;** *चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* **[1967] 1 एस. सी. आर. 77;** *चंद्रमौलेश्वर प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय,* **[1969] 3 एस. सी.**

सी. 56; *पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय बनाम हरियाणा राज्य* **[1975] 1 एस. सी. सी.** और ए. पांडुरंग राव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य, **[1975] 4 एस. सी. सी. 709, संदर्भित।**

पटनायक, न्यायमूर्ति द्वारा (सहमत)

1. बिहार राज्य में न्यायिक अधिकारियों की भर्ती के लिए इस अधिनियम का कोई अनुप्रयोग नहीं था। [381 - एच तथा 382-ए]

2. अनुच्छेद 16 (4) के अनुरूप कानून बनाने की आड़ में राज्य विधानमंडल अनुच्छेद 234 का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। [381 – ए- बी]

3. जिला न्यायाधीश के पद पर भर्ती का पूरा मामला या तो प्रत्यक्ष भर्ती या पदोन्नति के माध्यम से, उच्च न्यायालय पर छोड़ दिया गया था और यह राज्यपाल था जिसे उच्च न्यायालय के परामर्श से ऐसी नियुक्ति करने की आवश्यकता थी। भर्ती का पूरा क्षेत्र दो संवैधानिक वाणिज्य दूतावासों पर छोड़ दिया गया था और ऐसे मामले में उच्च न्यायालय की राय बाध्यकारी प्रभाव की होनी चाहिए थी। [377 – डी- एफ]

बी. एस. यादव बनाम हरियाणा राज्य, **[1981] 1 एस. सी. आर. 1024, संदर्भित।**

4.1. अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग, जो किसी अधिकारी को विधानमंडल अथवा राज्यपाल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन प्राप्त अपील के अधिकार का संरक्षण प्रदान करता है, उसका संबंध सेवा-शर्तों के विनियमन से है, न कि जिला न्यायाधीशों अथवा अधीनस्थ न्यायाधीशों की भर्ती से। [378 - बी-सी]

4.2. 'भर्ती' और 'सेवा की अन्य शर्तें' जैसे शब्द सेवा न्यायशास्त्र में दो अलग-अलग अर्थ थे और इसे अनुच्छेद 234 और 309 को संलग्न करते समय ध्यान में रखा गया था। [377 - सी-डी]

बनर्जी, न्यायमूर्ति द्वारा **(सहमत)**

1.1. अनुच्छेद 234 और 235 के सरल पठन ने अनुच्छेद 309 से स्वतंत्र रूप से न्यायिक अधिकारियों के अलग-अलग वर्गीकरण और उनकी नियुक्ति के बारे में कोई संदेह नहीं छोड़ा। [383 - जी]

1.2. ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार दो संवैधानिक पदाधिकारियों—अर्थात् राज्यपाल और उच्च न्यायालय—के पास था; इस प्रकार, इसे अनुच्छेद 309 द्वारा प्रदत्त सामान्य शक्ति के दायरे से बाहर कर दिया गया। [384 - सी]

सेठी, न्यायमूर्ति (अपने लिए और खरे, न्यायमूर्ति) द्वारा (असहमति जताते हुए):

1.1. यह अधिनियम न्यायिक सेवा की स्थापना के लिए लागू था। उच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को न्यायिक सेवा के लिए इसकी प्रयोज्यता और इसके विभिन्न प्रावधानों की व्याख्या के मामले में भी अधिकार से बाहर घोषित करने में गलती की थी। [436 – ई-एफ, 437-एफ]

नसीरुद्दीन बनाम राज्य परिवहन अपीलीय न्यायाधिकरण, ए. आई. आर. (1976) एस. सी. 331, निर्दिष्ट।

1.2. न्यायिक सेवा, अनुच्छेद 309 के अर्थ में 'सेवा' है। अतः अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला न्यायाधीश की नियुक्ति, संविधान के अनुच्छेद 309 के अर्थ में लोक सेवा में नियुक्ति है। संविधान के अनुच्छेद 309 के अर्थ के भीतर लोक सेवा में नियुक्ति। [391 - सी]

2. एक स्वतंत्र न्यायपालिका को राज्य में एक अलग सेवा का निर्माण नहीं कहा जा सकता है जो विधानमंडल की संप्रभु शक्तियों को बनाने वाले कानून के अधीन नहीं है। अनुच्छेद 309 स्वयं संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन था जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। [391 – डी]

चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, ए. आई. आर. (1966) एस. सी. 1987; *एस. पी. गुप्ता बनाम भारत संघ,* [1982] 2 एससीआर 365 और *असम राज्य बनाम कुसेश्वर सैकिया,* ए. आई. आर. (1970) एस. सी. 1616, संदर्भित है ।

3. न्यायिक सेवा इतनी पृथक अथवा स्वतंत्र सेवा नहीं है कि वह राज्य विधानमंडल और कार्यपालिका को अनुच्छेद 309 में वर्णित विषयों पर, जो संविधान के अनुच्छेद 233 से 236 के अंतर्गत आच्छादित नहीं हैं, विधि बनाने और नियम निर्मित करने से वंचित कर दे। भाग 6 के अध्याय 3 तथा भाग 14 के अध्याय 1 के प्रावधानों को परस्पर पूरक एवं सहायक के रूप में समझा जाना चाहिए। यदि अनुच्छेद 309 के अंतर्गत कार्यपालिका द्वारा बनाए गए नियम लागू किए गए हों और उन पर कार्यवाही की गई हो, तो न्यायिक सेवा के संबंध में अनुच्छेद 309 के प्रथम भाग के अधीन विधायिका की विधिनिर्माण संबंधी सार्वभौम शक्ति पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अनुच्छेद 309 के अंतर्गत निहित शक्ति उस अनुच्छेद के प्रारंभिक शब्दों के अधीन है। [412 - बी, सी]

संदर्भः अनुच्छेद 143, भारत का संविधान और दिल्ली कानून अधिनियम (1912) ए. आई. आर. (1951) एस. सी. 332 *और होटल बालाजी बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* ए. आई. आर. (1993) एस. सी. 1048, संदर्भित।

4. यदि संविधान के अध्याय 11 को सप्तम अनुसूची के साथ पढ़े जाने पर उपयुक्त विधानमंडल को प्राधिकार प्राप्त हो, तो वह विधि बनाने के लिए सक्षम होगा। अनुच्छेद 234 के अंतर्गत निर्मित नियमों और उपयुक्त विधानमंडल द्वारा निर्मित विधियों के मध्य टकराव की स्थिति में, नियमों को सार्वभौम विधानमंडल द्वारा निर्मित विधियों के समक्ष स्थान छोड़ना होगा। तथापि, ऐसी निर्मित विधि को अवैध अथवा न्यायिक सेवा पर अनुप्रयोज्य घोषित किया जा सकता है, यदि वह किसी भी प्रकार न्यायपालिका की स्वतंत्रता को क्षीण करती हो, अथवा अध्याय 6 के अंतर्गत प्रदत्त संवैधानिक गारंटियों का अतिक्रमण करती हो, या मूल अधिकारों का उल्लंघन करती हो। [429 - ई, जी]

चंद्रमौलेश्वर मोहन प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय, **ए. आई. आर. (1970) एस. सी. 370;** *अखिल भारतीय न्यायाधीश, एसोसिएशन बनाम भारत संघ,* **ए. आई. आर. (1993) एससी 2493;** *पश्चिम बंगाल राज्य बनाम नृपेन्द्र नाथ बागची,* ***ए. आई. आर.*** **1966 एस. सी. 447;** *बी. एस. यादव बनाम हरियाणा राज्य,* **[1981] 1 एस. सी. आर. 1024;** *पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय बनाम हरियाणा राज्य,* **ए. आई. आर. (1975) एस. सी. 613;** *हरि दत्त डैंथला बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य,* **ए. आई. आर. (1980) एस. सी. 1426;** *के. एन. चंद्र शेखर बनाम मैसूर राज्य,* **ए. आई. आर. (1963) मैसूर 292 और** *एम. आई. नदाफ बनाम मैसूर राज्य,* **ए. आई. आर. (1967) मैसूर 77, संदर्भित है।**

5. आरक्षण संविधान का हिस्सा होने के कारण, उच्च न्यायालय को समाज के कमजोर वर्गों के लिए आरक्षण देने के राज्य सरकार के अनुरोध को स्वीकार करना चाहिए था। [421 - ए]

एम. एम. गुप्ता बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य, **ए. आई. आर. (1982) एस. सी. 1579 और** *इंद्रा साहनी बनाम भारत संघ,* **[1992] पूरक 3 एस. सी. सी. 217, संदर्भित।**

6. न्यायिक सेवा के सदस्यों की ज्येष्ठता का निर्धारण, लागू सेवा नियमों तथा अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार, आरक्षण के आधार पर चयनित अभ्यर्थियों को आरक्षित स्थानों पर समायोजित करते हुए, कोटा एवं चक्रानुक्रम नियम को ध्यान में रखकर किया जाएगा। [437 – जी-एच]

दीवानी अपीलीय न्यायनिर्णयः 1996 की दीवानी अपील सं. 9072

1994 के दीवानी विनिर्दिष्ट आदेश क्षेत्राधिकार संख्या 6756 में पटना उच्च न्यायालय के दिनांकित 13.12.94 निर्णय और आदेश से ।

अपीलकर्ता/ओं के लिएः वी. ए. बोबडे, एफ. एस. नरीमन, डॉ. राजीव धवन, राकेश द्विवेदी, के. सुकुमारन, डी. डी. ठाकुर, बी. एल. यादव, बी. डी. अग्रवाल, साकेत सिंह, कुमार राजेश सिंह, बी. बी. सिंह, उमान नाथ सिंह, लक्ष्मी रमन सिंह, अमितेश कुमार, अपूर्व लाल, प्रकाश कुमार, एस. के. वर्मा, सुश्री कीर्ति सिन्हा, अखिलेश कुमार पांडे, आर. पी. गोयल, गुलाब चंद्र, डी. के. गर्ग, सुश्री रेणु जॉर्ज, के. के. मिश्रा, विश्वजीत सिंह, एन.एस. गहलोत, अनीश दयाल, आर.के. सिंह, एस.डी.मिश्रा, त्रिपुरारी राय, प्रशांत कुमार, एस.के. सिन्हा, आर.एस. सिंह, अनिल कुमार झा, इरशाद अहमद, ए. एन. बरदियार, बी. बी. सिंह, पी. एच. पारेख और अमित ढींगरा ।

न्यायालय के निम्नलिखित निर्णय/आदेश दिए गएः

एस. बी. मजमूदार, न्यायमूर्ति 1993 की विशेष अनुमति याचिका संख्या 16476 में अनुमति दी गई।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष अनुमति प्रदान किए जाने पर प्रस्तुत ये दोनों अपीलें बिहार राज्य द्वारा दायर की गई हैं, जो दोनों अपीलों में समान रूप से प्रथम अपीलकर्ता है। 1996 की दीवानी अपील सं. 9072 में, बिहार सरकार के कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के सचिव द्वितीय अपीलकर्ता हैं; जबकि 1993 की विशेष अनुमति याचिका संख्या 16476 से उत्पन्न सहगामी अपील में अन्य उत्तरदाता अपीलकर्ता बिहार लोक सेवा आयोग, पटना के विशेष कार्यपालक पदाधिकारी-सह-उप सचिव हैं। इन दोनों अपीलों में विचारार्थ एक समान विधिक प्रश्न उत्पन्न होता है, अर्थात् क्या बिहार राज्य का विधानमंडल बिहार पदों एवं सेवाओं में रिक्तियों का आरक्षण (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए) अधिनियम, 1991 (जिसे आगे 'अधिनियम' कहा गया है) अधिनियमित करने में सक्षम था, जहाँ तक उसकी धारा 4 द्वारा पटना उच्च न्यायालय के अधीन राज्य की न्यायपालिका में पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती हेतु आरक्षण लागू करने का प्रयास किया गया है। इन पदों में जिला न्यायाधीशों के पद तथा जिला न्यायालयों के

अधीन प्रारंभिक स्तर की अधीनस्थ न्यायपालिका के वे पद सम्मिलित हैं, जो बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली, 1955 के प्रावधानों द्वारा नियंत्रित हैं। 1996 की दीवानी अपील सं. 9072 जिला न्यायपालिका के पदों में आरक्षण के प्रश्न से संबंधित है, जबकि सहगामी अपील संबंधित जिला न्यायालयों के अधीन प्रारंभिक स्तर की अधीनस्थ न्यायपालिका के पदों से संबंधित है। 1996 के दीवानी अपील में आक्षेपित निर्णय द्वारा, उच्च न्यायालय की एक खंड पीठ ने विज्ञापन की शर्तों को रद्द कर दिया है, जिसमें अन्य के अलावा, जिला न्यायाधीशों के 54 पदों में से 27 को सीधी भर्ती द्वारा भरा जाना है, क्योंकि यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 के प्रासंगिक प्रावधानों के *अधिकारातीत* है। इसने इन पदों पर सीधी भर्ती के माध्यम से नियुक्ति के लिए पात्रता के लिए 45 वर्ष की ऊपरी आयु सीमा निर्धारित करने वाले आक्षेपित विज्ञापन में किए गए प्रावधानों को भी रद्द कर दिया है। विवाद का वह भाग वर्तमान कार्यवाही में पक्षकारों के मध्य अब शेष नहीं है; अतः उस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक सहगामी अपील का संबंध है, उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने अपने मुख्य निर्णय में यह घोषित किया कि उपर्युक्त अधिनियम तथा उससे पूर्व लागू अध्यादेश, जहाँ तक वे जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की राज्य की न्यायिक सेवा में भर्ती के लिए पदों के आरक्षण की योजना लागू करने का प्रयास करते हैं, संविधान के अनुच्छेद 234 के *अधिकारातीत* हैं। चूंकि इन अपीलों में शामिल विवादों को प्रासंगिक संवैधानिक योजना के आलोक में हल किया जाना है, इसलिए इस न्यायालय के 13 मई, 1994 के एक पूर्व आदेश द्वारा उन्हें संविधान पीठ के समक्ष सूचीबद्ध करने का निर्देश दिया गया था। तत्पश्चात, अधिवक्ताओं द्वारा यह कथन किए जाने पर कि प्रकरण का निस्तारण तीन-न्यायाधीशीय पीठ द्वारा किया जा सकता है, आदेश दिनांक 12 मई 1995 द्वारा इन मामलों को तीन-न्यायाधीशीय पीठ के समक्ष रखने का निर्देश दिया गया। इसके बाद इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ ने 6 नवंबर, 1997 के अपने आदेश में महसूस किया कि इन मामलों ने संविधान के अनुच्छेद 233, 234 और 309 के प्रावधानों की

व्याख्या के संबंध में सवाल उठाए हैं और इसलिए यह उचित होगा कि उनकी सुनवाई संविधान पीठ द्वारा की जाए। इस प्रकार इन मामलों को माननीय मुख्य न्यायाधीश के निर्देश पर इस संविधान पीठ के समक्ष रखा गया है।

पक्षकारों की ओर से विद्वान सलाहकार की प्रतिद्वंद्वी दलीलों पर विचार करने से पूर्व, कुछ प्रारंभिक तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है।

1996 की दीवानी अपील संख्या 9072 की ओर ले जाने वाले तथ्यः

इस न्यायालय ने *बिहार राज्य बनाम मदन मोहन सिंह एवं अन्य* में दीवानी अपील संख्याएँ 4561-62 सन् 1992 में दिनांक 13 अक्टूबर 1993 के आदेश द्वारा बिहार की जिला न्यायिक सेवा में अपर जिला न्यायाधीशों के रिक्त पदों को भरने हेतु पूर्व में जारी विज्ञापन को निरस्त कर दिया था तथा अपीलकर्ता राज्य को निर्देश दिया था कि वह नया विज्ञापन जारी कर रिक्तियों को भरे। इसी बीच, ऐसा प्रतीत होता है कि चूँकि उच्च न्यायालय ने आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों के लिए जिला न्यायाधीशों के पदों में आरक्षण प्रदान करने के राज्य प्राधिकारियों के सुझाव से सहमति नहीं दी थी तथा 1951 नियमावली, जिसे बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा नियमावली, 1951 कहा जाता है, के अनुसार भर्ती प्रक्रिया चलाने पर बल दिया था — ये नियमावली बिहार के राज्यपाल द्वारा भारत के संविधान के अनुच्छेद 309 के परंतुक को अनुच्छेद 233 के साथ पठित करते हुए प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में बनाई गई थी तथा इनमें ऐसे किसी आरक्षण का प्रावधान नहीं था — इसलिए बिहार के राज्यपाल ने आक्षेपित अध्यादेश जारी किया, जो बाद में आक्षेपित अधिनियम में परिणत हुआ। इस अधिनियम द्वारा संबंधित पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती करते समय आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण योजना लागू करने का निर्देश दिया गया। 16 दिसंबर, 1993 के अपने संचार द्वारा, पटना उच्च न्यायालय ने जोर देकर कहा कि जिला न्यायपालिका में भर्ती केवल 1951 के नियमों के आधार पर की जा सकती है। दिनांक 5 अप्रैल 1994 के पत्र द्वारा उच्च न्यायालय ने संबंधित प्राधिकारियों को सूचित किया कि जिला संवर्ग में पदों का

आरक्षण लागू नहीं किया जा सकता; तथापि बार से प्रत्यक्ष भर्ती करते समय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उन अभ्यर्थियों को वरीयता दी जा सकती है जो सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों के समान योग्यता रखते हों। दिनांक 7 अप्रैल 1994 को उच्च न्यायालय ने सूचित किया कि जिला संवर्ग में 54 रिक्तियाँ उपलब्ध हैं जिन्हें भरा जाना है। इसके बावजूद राज्य सरकार ने दिनांक 16 जून 1994 को आक्षेपित विज्ञापन जारी किया, जिसके अंतर्गत जिला न्यायाधीशों के उपलब्ध पदों में से 50 प्रतिशत पद आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों से तथा शेष 50 प्रतिशत, अर्थात् 27 पद, सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों से भरे जाने थे। यही वह विज्ञापन था जिसे विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाकर्ताओं ने उच्च न्यायालय में चुनौती दी। उच्च न्यायालय ने, जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, आक्षेपित निर्णय द्वारा विनिर्दिष्ट आदेश याचिका स्वीकार करते हुए विज्ञापन में आरोपित आरक्षण की शर्त को निरस्त कर दिया।

1993 की विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) संख्या 16476 से उत्पन्न दीवानी अपील तक पहुँचाने वाले तथ्य :

दिनांक 30 जनवरी 1991 के प्रस्ताव द्वारा अपीलकर्ता-राज्य ने आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु अधीनस्थ न्यायिक सेवा में पदों के आरक्षण का प्रावधान करने के संबंध में बिहार लोक सेवा आयोग से परामर्श किया। अपीलकर्ता-राज्य के उक्त प्रस्ताव को उच्च न्यायालय के विचारार्थ भी प्रस्तुत किया गया, परंतु उच्च न्यायालय ने अपने पत्र दिनांक 16 अप्रैल 1991 द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप अध्यादेश संख्या 33 एवं 34 सन् 1991 जारी किए गए, जिनके पश्चात आक्षेपित अधिनियम अस्तित्व में आया। मूल विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाकर्ताओं, जो अप्रैल 1991 में आयोजित प्रतियोगी परीक्षा में सम्मिलित हो चुके थे, ने उच्च न्यायालय में इन अध्यादेशों तथा तत्पश्चात अधिनियम को चुनौती दी, जहाँ तक राज्य न्यायपालिका के प्रारंभिक स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती हेतु 50 प्रतिशत आरक्षण योजना लागू करने

का प्रश्न था। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, उक्त विनिर्दिष्ट आदेश याचिका स्वीकार कर ली गई तथा अपीलकर्ताओं के विरुद्ध राहत प्रदान की गई।

प्रतिद्वंद्वी विवादः

1996 की दीवानी अपील संख्या 9072 में अपीलकर्ता-राज्य की ओर से उपस्थित वरिष्ठ अधिवक्ता डॉ. धवन ने प्रारंभ में यह तर्क प्रस्तुत किया कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित अधिनियम, विशेषकर उसकी धारा 4, को राज्य की न्यायिक सेवाओं पर अनुप्रयोज्य मानकर त्रुटि की है। उन्होंने कहा कि न्यायिक सेवाएँ, विशेषतः जिला संवर्ग तथा उससे निम्न स्तर के न्यायाधीशों से मिलकर बनी अधीनस्थ न्यायपालिका, राज्य की लोक सेवाओं का अभिन्न अंग हैं; अतः अधिनियम की स्पष्ट भाषा के अनुसार उसकी धारा 4 जिला स्तर तथा उससे नीचे की अधीनस्थ न्यायपालिका — दोनों स्तरों पर न्यायिक अधिकारियों की भर्ती पर प्रत्यक्षतः लागू होती है। वैकल्पिक रूप से यह भी निवेदन किया गया कि यदि यह मान भी लिया जाए कि अधिनियम अपनी भाषा के आधार पर स्वतः लागू नहीं होता, तब भी यह माना जाना चाहिए कि संविधान के अनुच्छेद 16(4) को सप्तम अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 41 के साथ पढ़ने पर राज्य विधानमंडल न्यायिक सेवाओं में पदों के आरक्षण संबंधी प्रावधान अधिनियमित करने के लिए पूर्णतः सक्षम है। उन्होंने यह मूल प्रश्न भी उठाया कि क्या राज्य विधानमंडल को न्यायपालिका में नियुक्तियों के संबंध में आरक्षण का प्रावधान करने की स्वतंत्र शक्ति प्राप्त है, जबकि ऐसा आरक्षण उच्च न्यायालय से परामर्श के उपरांत भी अनुच्छेद 309 को अनुच्छेद 233 एवं 234 के साथ पठित करते हुए राज्यपाल द्वारा बनाए गए प्रासंगिक नियमों में परिलक्षित नहीं हो सका। इन तर्कों के समर्थन में संविधान की प्रासंगिक योजना का अवलंब लिया गया। यह निवेदन किया गया कि अनुच्छेद 309 की यथार्थ व्याख्या के अनुसार राज्य विधानमंडल तथा राज्यपाल — दोनों को न्यायिक सेवा के संबंध में आरक्षण का प्रावधान करने का पर्याप्त अधिकार प्राप्त है। उक्त अनुच्छेद के अंतर्गत इस विषय में सर्वोपरि शक्ति राज्य विधानमंडल में निहित है। इसके पश्चात अधीनस्थ

न्यायपालिका के संदर्भ में अनुच्छेद 233 एवं 234 का उल्लेख करते हुए अनुच्छेद 236(ख) पर विशेष बल दिया गया, जो "न्यायिक सेवा" की परिभाषा इस प्रकार करता है कि यह ऐसी सेवा है जिसमें केवल वे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो जिला न्यायाधीश के पद तथा उससे निम्न दीवानी न्यायिक पदों को भरने के लिए अभिप्रेत हों। उन्होंने निवेदन किया कि अनुच्छेद 309 का प्रारंभिक भाग केवल इतना उपबंधित करता है कि जिला न्यायाधीशों अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका के निम्न न्यायाधीशों के संवर्ग में, अनुच्छेद 233 एवं 234 के अनुसार नियुक्तियाँ करते समय, राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना आवश्यक है।इसके अतिरिक्त, इन दोनों अनुच्छेदों से राज्य विधानमंडल की उस शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं लगता जिसके अंतर्गत वह अनुच्छेद 309 के अधीन इस विषय में उपयुक्त विधि अधिनियमित कर सके। उन्होंने सप्तम अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 41 की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए निवेदन किया कि राज्य विधानमंडल लोक सेवाओं में नियुक्तियों के संबंध में विधि बनाने के लिए सक्षम है, और "न्यायिक सेवा" भी राज्य की लोक सेवा का ही एक अंग है। उन्होंने आगे यह भी कहा कि जहाँ तक राज्य विधानमंडल की सर्वोपरि शक्तियों का प्रश्न है, अनुच्छेद 309 का प्रथम भाग अनुच्छेद 234 से बाधित नहीं होता।

डॉ. धवन ने अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग पर निर्भर करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यद्यपि जिला न्यायपालिका पर पूर्ण नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित है, तथापि अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्यों को प्राप्त अपील का अधिकार तथा उनकी अन्य सेवा-शर्तें, जो किसी सक्षम विधि — जिसमें विधायी अधिनियम तथा सांविधिक नियम दोनों सम्मिलित हैं — द्वारा निर्धारित की गई हों, कम-से-कम उस सीमा तक संरक्षित रहती हैं जहाँ प्रारंभिक स्तर पर न्यायपालिका में नियुक्तियाँ हो जाने के पश्चात यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसे नियुक्त व्यक्तियों की सेवा-शर्तों का विनियमन एवं नियंत्रण किस प्रकार किया जाएगा। इस आधार पर डॉ. धवन ने निवेदन किया कि ऐसा नहीं माना जा सकता कि अनुच्छेद 233 से 235 के अस्तित्व के कारण राज्य विधानमंडल की उपयुक्त प्रावधान अधिनियमित करने की

शक्ति पूर्णतः अपवर्जित हो जाती है। डॉ. धवन ने अपने तर्क को स्पष्ट करते हुए कहा कि यदि यह मान लिया जाए कि अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्यों की नियुक्ति संबंधी उपयुक्त प्रावधान बनाने की राज्य विधानमंडल की शक्ति अनुच्छेद 234 द्वारा पूर्णतः निष्कासित कर दी गई है और इस सीमा तक अनुच्छेद 309 को अप्रभावी मान लिया जाए, तो इन प्रावधानों के क्रियान्वयन में निम्नलिखित विसंगतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

(1) अनुच्छेद 236 (बी) द्वारा परिभाषित न्यायिक सेवा के संचालन में कटौती की जाएगी।

(2) डॉ. धवन द्वारा इंगित दूसरी विसंगति यह थी कि विधिनिर्माण की शक्ति, जिसे पूर्ण प्रभाव दिया जाना चाहिए, बिना किसी स्पष्ट अपवर्जन के निष्प्रभावी हो जाएगी।

(3) डॉ. धवन द्वारा इंगित तीसरी विसंगति यह थी कि यद्यपि संविधान के अंतर्गत शक्तियों के पृथक्करण की व्यवस्था कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक रखने के लिए निर्मित की गई है, तथापि यह व्यवस्था विधायिका की शक्ति को निष्कासित करने तक विस्तृत नहीं है। यदि यह मान लिया जाए कि अनुच्छेद 234 उसमें निहित विषयों पर उपयुक्त विधि बनाने की विधायी शक्ति को समाप्त कर देता है, तो उस सीमा तक ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न होगी जिसकी संविधान की योजना में कल्पना नहीं की गई है।

डॉ. धवन ने आगे यह तर्क प्रस्तुत किया कि अनुच्छेद 234 की स्पष्ट भाषा के अनुसार केवल राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति ही सीमित होती है, राज्य की विधायी शक्ति नहीं।

डॉ. धवन ने आगे कहा कि यदि अनुच्छेद 234 के अनुसार अधीनस्थ न्यायपालिका में सीधी भर्तियों के चयन और नियुक्ति की प्रक्रिया में विधायी हस्तक्षेप को पूरी तरह से खारिज कर दिया जाता है कि अधीनस्थ न्यायपालिका का पहला स्तर या जमीनी स्तर होने के कारण एक और स्पष्ट रूप से विसंगत स्थिति उत्पन्न होगी। जहाँ तक न्यायिक अधिकारियों की सेवा की शर्तों का संबंध है, अनुच्छेद 235 के दूसरे भाग के तहत सक्षम विधानमंडल द्वारा

अधिनियमित किए जाने वाले ऐसे वैधानिक प्रावधानों पर स्पष्ट रूप से विचार किया जाता है और फिर जब हम शीर्ष स्तर, अर्थात् जिला न्यायाधीशों द्वारा संचालित जिला संवर्ग की ओर मुड़ते हैं, तो अनुच्छेद 233 के तहत विधायी हस्तक्षेप का कोई स्पष्ट निष्कासन नहीं है। फलस्वरूप, विधानमंडल की पूर्ण शक्ति जिला न्यायपालिका की श्रेणीक्रम में उच्चतम पदों के संबंध में प्रभावी रहेगी, जबकि आधारभूत स्तर पर वह निष्कासित मानी जाएगी। डॉ. धवन ने इसके समर्थन में *एम. एम. गुप्ता एवं अन्य बनाम जम्मू एवं कश्मीर राज्य एवं अन्य,* [1982] 3 एस.सी.सी. 412, कंडिका 28 से 32 तथा *केरल राज्य बनाम श्रीमती ए. लक्ष्मीकुट्टी एवं अन्य,* [1986] 4 एस.सी.सी. 632, पृष्ठ 647 के कंडिका 22 का उल्लेख करते हुए "परामर्श" शब्द के क्षेत्राधिकार को रेखांकित किया और कहा कि परामर्श प्रभावी होना चाहिए। इसके बाद उन्होंने आक्षेपित अधिनियम की विशेषतः धारा 2(सी), धारा 4 तथा धारा 16 की ओर ध्यान आकर्षित किया, जिनका प्रभाव सभी प्रचलित नियमों पर अधिभावी है, और निवेदन किया कि 'राज्य' के अंतर्गत आने वाली संस्थाओं में न्यायपालिका भी सम्मिलित होगी, जैसा कि धारा 2(एन) की परिभाषा से स्पष्ट है। उन्होंने निष्पक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि न तो अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला संवर्ग में नियुक्तियों हेतु 1951 नियमावली में और न ही अनुच्छेद 234 के अंतर्गत अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती हेतु 1955 नियमावली में पदों के 50 प्रतिशत आरक्षण का कोई प्रावधान है। इसी कारण उन्होंने निवेदन किया कि यह संपूर्ण प्रकरण आक्षेपित अधिनियम की विधिक क्षमता पर निर्भर करता है, जिसे इसलिए अधिनियमित करना पड़ा क्योंकि इस विषय पर गतिरोध उत्पन्न हो गया था; उच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 233 एवं 234 के अंतर्गत इन नियमों में उपयुक्त संशोधन संबंधी राज्यपाल के सुझाव से सहमति नहीं दी थी। अंततः उन्होंने यह कहा कि उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि अधिनियम "न्यायिक सेवा" पर लागू नहीं होता, प्रत्यक्षतः त्रुटिपूर्ण है। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि यह अधिनियम अनुच्छेद 233 अथवा 234 की किसी सीमा से बँधा हुआ नहीं है, बल्कि यह संविधान के अनुच्छेद 309 के

प्रथम भाग को सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 41 के साथ पढ़ने पर राज्य प्राधिकारियों को प्रदत्त सर्वोपरि विधायी शक्ति का प्रयोग है। अतः उनका निवेदन था कि अधिनियम को पूर्ण प्रभाव से लागू होने दिया जाना चाहिए।

अपने तर्कों के समर्थन में डॉ. धवन ने इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा *बी. एस. यादव एवं अन्य बनाम हरियाणा राज्य एवं अन्य* [1981] 1 सर्वोच्च न्यायालय निर्णयावली 1024 में दिए गए निर्णय पर विशेष बलपूर्वक निर्भरता व्यक्त की। अतः डॉ. धवन ने निवेदन किया कि उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय, संविधान की योजना के प्रतिकूल होने के कारण, अपास्त किया जाना अपेक्षित है।

सहगामी दीवानी अपील में अपीलकर्ता-राज्य की ओर से उपस्थित वरिष्ठ अधिवक्ता श्री द्विवेदी ने निवेदन किया कि यद्यपि उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय के अनुच्छेद 9, पृष्ठ 11 में इस न्यायालय की त्रि-न्यायाधीशीय पीठ के निर्णय *अखिल भारतीय न्यायाधीश संघ एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य*, ए. आई. आर. 1993 एस. सी. 2493 का उल्लेख करते हुए न्यायिक अधिकारियों को विशेष स्थिति प्रदान किए जाने की बात कही है, तथापि उक्त टिप्पणियाँ अनुच्छेद 16(4) के अधीन राज्य प्राधिकारियों को उपलब्ध आरक्षण की शक्ति को सीमित नहीं कर सकतीं, क्योंकि उस निर्णय में इस प्रश्न पर विचार नहीं किया गया था। उन्होंने निवेदन किया कि धारा 2(सी) और धारा 2(एन) का संयुक्त अध्ययन स्पष्ट करता है कि यह अधिनियम बिहार राज्य की "न्यायिक सेवा" पर भी लागू होने के लिए अभिप्रेत है। उन्होंने आगे तर्क दिया कि राज्य प्राधिकारियों द्वारा अनुच्छेद 309 के अंतर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए पूर्व से स्थापित संवर्ग में पदों के आरक्षण का प्रश्न, अनुच्छेद 233 से 235 के अंतर्गत नहीं आता। यह प्रश्न अनुच्छेद 16 के उपबंध (4) द्वारा नियंत्रित है, और उपर्युक्त संवैधानिक प्रावधानों में से कोई भी राज्य प्राधिकारियों को उपलब्ध इस सक्षमकारी शक्ति को सीमित नहीं करता। इस संदर्भ में उन्होंने संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची III की प्रविष्टि 11-क की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जो सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च

न्यायालयों को छोड़कर अन्य सभी न्यायालयों की स्थापना एवं संगठन से संबंधित है। उन्होंने निवेदन किया कि पदों के आरक्षण की योजना इन प्रावधानों तथा सूची 2 की प्रविष्टि 41 के अधीन अधिनियमित विधायन के आधार पर भी वैध रूप से समर्थित रहती है। उन्होंने आगे कहा कि एक बार न्यायालय की स्थापना हो जाने पर उसमें न्यायिक अधिकारियों के विभिन्न संवर्ग सम्मिलित होते हैं जो न्यायालयों का संचालन करते हैं; और संवर्गों का गठन तथा न्यायालयों की स्थापना में ऐसे आरक्षित पदों के सृजन का प्रावधान भी सम्मिलित किया जा सकता है। उनके अनुसार, इस प्रक्रिया का पहले से स्थापित न्यायिक सेवा संवर्गों में विद्यमान रिक्तियों पर योग्य अभ्यर्थियों की नियुक्ति से कोई संबंध नहीं है। श्री द्विवेदी के मतानुसार, संवर्गों की स्थापना और उनमें पदों का सृजन वह प्रारंभिक अवस्था है जो अनुच्छेद 233 से 235 द्वारा परिकल्पित उस पश्चातवर्ती अवस्था से पूर्व की है, जिसमें यह प्रश्न विचारणीय होता है कि पहले से सृजित पदों की रिक्तियों को भरने हेतु वास्तविक नियुक्तियाँ किस प्रकार की जाएँ।

संक्षेप में, श्री द्विवेदी का निवेदन यह था कि आरक्षित वर्ग अथवा सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों द्वारा भरे जाने वाले पदों के सृजन का प्रश्न राज्य प्राधिकारियों, विशेषतः विधानमंडल, के अधिकार क्षेत्र में आता है, जो संविधान के अनुच्छेद 16(4) को सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 41 तथा सूची III की प्रविष्टि 11-क के साथ पढ़ते हुए अपने संवैधानिक दायित्व के निर्वहन हेतु उपयुक्त सांविधिक प्रावधान अधिनियमित कर सकता है। एक बार सामान्य वर्ग तथा आरक्षित वर्ग के पद उच्च न्यायालय को भरे जाने हेतु उपलब्ध करा दिए जाएँ, तब उसके पश्चात उच्च न्यायालय का दायित्व होगा कि वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 एवं 234 के अनुसार आगे की कार्यवाही करे, और उस प्रक्रिया में राज्य विधानमंडल की कोई भूमिका नहीं होगी। अतः उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह मानकर प्रत्यक्ष त्रुटि की है कि उसके नियंत्रणाधीन अधीनस्थ न्यायपालिका में आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु पदों के आरक्षण का सांविधिक

प्रावधान किसी प्रकार संविधान-विरुद्ध अथवा अवैध है। अपने तर्कों के समर्थन में श्री द्विवेदी ने लिखित निवेदन भी प्रस्तुत किए, जिनमें अन्य बातों के साथ उन्होंने हमारा ध्यान अनुच्छेद 320 के उपबंध (4) की ओर आकृष्ट किया, जो लोक सेवा आयोग की शक्तियों एवं कर्तव्यों से आरक्षण के प्रश्न को स्पष्ट रूप से अपवर्जित करता है। उन्होंने निवेदन किया कि अनुच्छेद 234 के अंतर्गत नियम बनाते समय राज्यपाल को उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग — दोनों से परामर्श करना होता है। जब लोक सेवा आयोग अनुच्छेद 16(4) के अधीन आरक्षण संबंधी कोई प्रावधान नहीं कर सकता, तब समान तर्क के आधार पर अनुच्छेद 234 के अंतर्गत उच्च न्यायालय से होने वाला परामर्श भी उच्च न्यायालय को अनुच्छेद 16(4) के विषय में विचार करने की अनुमति नहीं देता। अन्य शब्दों में, आरक्षण का प्रश्न अनुच्छेद 234 के क्षेत्राधिकार से बाहर है। श्री द्विवेदी ने अपने तर्कों के समर्थन में इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों पर भी निर्भरता व्यक्त की, जिनका उपयुक्त अवसर पर उल्लेख किया जाएगा। उन्होंने आगे यह भी कहा कि बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली, 1955 (जिसे आगे 1955 नियमावली कहा जाएगा), विशेषतः नियम 19 एवं 20, निम्न न्यायपालिका में पदों के आरक्षण की परिकल्पना करते हैं; और ये नियम राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करके बनाए गए हैं।

श्री द्विवेदी ने आगे निवेदन किया कि किसी भी स्थिति में उच्च न्यायालय को आक्षेपित निर्णय में इस अतिरिक्त प्रश्न पर विचार करने के लिए नहीं कहा गया था कि जिला संवर्ग के पदों में आरक्षण हो सकता है अथवा नहीं, और यह कि उच्च न्यायालय का यह मत — कि यदि समान योग्यता वाले अभ्यर्थी उपलब्ध हों तो अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों को वरीयता दी जा सकती है — सही था अथवा नहीं। उनके अनुसार, उच्च न्यायालय के समक्ष केवल यही प्रश्न विचारार्थ था कि क्या आक्षेपित अधिनियम जिला न्यायपालिका में पदों के आरक्षण के प्रावधान पर वैध रूप से लागू हो सकता है। अतः उन्होंने निवेदन किया कि आक्षेपित निर्णय के अनुच्छेद 24 में की गई

टिप्पणियाँ अनावश्यक तथा अप्रासंगिक हैं, इसलिए उन्हें अपास्त किया जाना अपेक्षित है। इसी आधार पर श्री द्विवेदी ने निवेदन किया कि अपील स्वीकार की जानी चाहिए।

दूसरी ओर, अंतरिम आवेदन संख्या 20 में उपस्थित हस्तक्षेपकर्ताओं के अधिवक्ता ने अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती के संदर्भ में 1955 नियमावली के नियम 20 पर निर्भर करते हुए अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों हेतु आरक्षण का समर्थन किया। अंतरिम आवेदन संख्या 10 में अन्य पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों का प्रतिनिधित्व करने वाले अधिवक्ता ने आक्षेपित अधिनियम तथा उसके अंतर्गत आरक्षण योजना के समर्थन में डॉ. धवन एवं श्री द्विवेदी के तर्कों को अपनाया। अंतरिम आवेदन संख्या 11 के हस्तक्षेपकर्ताओं की ओर से उपस्थित अधिवक्ता ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए अधिनियम के अंतर्गत तथा उससे स्वतंत्र रूप से भी आरक्षण का समर्थन किया। जबकि अंतरिम आवेदन संख्या 4 एवं 9 में सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों का प्रतिनिधित्व करने वाले हस्तक्षेपकर्ताओं ने उच्च न्यायालय के निर्णय का समर्थन किया।

अपीलकर्ताओं की ओर से प्रस्तुत तर्कों का मुख्य प्रतिवाद पटना उच्च न्यायालय की ओर से उपस्थित वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ठाकुर द्वारा किया गया। उन्होंने प्रथम दृष्टया यह निवेदन किया कि आक्षेपित अधिनियम न्यायपालिका पर लागू होने के लिए पर्याप्त व्यापक नहीं है। इस तर्क के समर्थन में उन्होंने वही कारण प्रस्तुत किए जो आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय को स्वीकार्य हुए थे। वैकल्पिक रूप से उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि यदि आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 को न्यायिक अधिकारियों पर लागू माना जाए, तो वह अनुच्छेद 233 से 235 की समग्र संवैधानिक योजना के प्रतिकूल होने के कारण प्रत्यक्षतः अवैध हो जाएगी। अपने इस वैकल्पिक तर्क को स्पष्ट करते हुए उन्होंने निम्नलिखित निवेदन किए :

1. अनुच्छेद 309 का अधीनस्थ न्यायपालिका पर कोई अनुप्रयोग नहीं है। यह अनुच्छेद 233 से 235 की त्रयी द्वारा अपवर्जित हो जाता है, क्योंकि ये अनुच्छेद अपने आप में एक पूर्ण संहिता का निर्माण करते हैं।

2. एक बार जब अनुच्छेद 309 अपवर्जित हो जाता है, तब अनुच्छेद 309 के प्रथम भाग के अंतर्गत निहित विधायी शक्ति भी उन विषयों के संबंध में अपवर्जित हो जाती है जो उपर्युक्त अनुच्छेद-त्रयी के अंतर्गत आते हैं।

3. यही तीनों अनुच्छेद नियम अथवा विधि बनाने की शक्ति के एकमात्र स्रोत हैं, जैसा कि अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग तथा अनुच्छेद 233 एवं 234 से स्पष्ट होता है।

4. अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल द्वारा उसमें निर्धारित प्रक्रिया का पालन करते हुए बनाए गए नियम, अनुच्छेद 233 द्वारा अभिप्रेत "सेवा" से भी संबंधित होंगे।

5. अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग ही राज्य प्राधिकारियों को यह अनुमति दे सकता है कि वे अनुच्छेद 309 को सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 41 के साथ पढ़ते हुए अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग कर, पहले से भर्ती किए जा चुके न्यायिक अधिकारियों — चाहे वे जिला न्यायपालिका के आधारभूत स्तर पर हों अथवा उच्चतम स्तर पर — की सेवा-शर्तों को नियंत्रित करने हेतु उपयुक्त विधायन करें।

अपने इस तर्क के समर्थन में कि अनुच्छेद 309 न्यायिक सेवा में भर्ती पर लागू नहीं होता, उन्होंने हमारा ध्यान अनुच्छेद 187, जो विधानमंडल के सचिवालय कर्मचारियों से संबंधित है; अनुच्छेद 148, जो भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की सेवा-विनियमावली से संबंधित है; अनुच्छेद 146, जो सर्वोच्च न्यायालय की सेवाओं से संबंधित है; अनुच्छेद 229(2), जो उच्च न्यायालय की सेवाओं से संबंधित है; तथा अनुच्छेद 324(5), जो निर्वाचन आयोग की सेवा-विनियमावली से संबंधित है, की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने निवेदन किया कि इन सभी अनुच्छेदों में संबंधित विषयों पर उपयुक्त नियम अथवा विधि

बनाने के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं; परंतु जहाँ तक अनुच्छेद 234 का प्रश्न है, वह उपर्युक्त अन्य अनुच्छेदों की भाँति विधानमंडल की विधि के अधीन नहीं है।

हमारे एक प्रत्यक्ष प्रश्न के उत्तर में, पटना उच्च न्यायालय की ओर से उपस्थित वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ठाकुर ने आवश्यक निर्देश प्राप्त करने के पश्चात यह निवेदन किया कि सिद्धांततः पटना उच्च न्यायालय जिला न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर भर्ती हेतु अनुसूचित जाति के लिए 14 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति के लिए 10 प्रतिशत पदों के आरक्षण को पूर्व से स्वीकार कर चुका है। श्री ठाकुर ने विभिन्न उच्च न्यायालयों तथा इस न्यायालय के अनेक निर्णयों पर भी निर्भरता व्यक्त की, जिनका उपयुक्त अवसर पर उल्लेख किया जाएगा। उन्होंने आगे निवेदन किया कि आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 अपने स्पष्ट शब्दों में जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के विद्यमान संवर्गों के पदों पर नियुक्तियों को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती है। इस सीमा तक यह प्रत्यक्षतः अनुच्छेद 233 एवं 234 के प्रावधानों पर आघात करती है, जो अधीनस्थ न्यायपालिका में नियुक्ति के संबंध में मिलकर एक पूर्ण संहिता का निर्माण करते हैं। उन्होंने आगे कहा कि यह तर्क भ्रांतिपूर्ण है कि किसी विशिष्ट वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु पदों का आरक्षण उस अवस्था का विषय है जो संविधान के अनुच्छेद 233 एवं 234 द्वारा परिकल्पित भर्ती एवं नियुक्ति के प्रश्न से पूर्व की अवस्था है। उनके अनुसार, एक बार किसी संवर्ग में भरे जाने हेतु पदों का सृजन हो जाने पर, इस संबंध में राज्य की भूमिका समाप्त हो जाती है। यद्यपि ऐसे संवर्गों के सृजन तथा पदों की स्वीकृति हेतु उपयुक्त विधायन किया जा सकता है, अथवा राज्यपाल अनुच्छेद 309 के अधीन अपनी स्वतंत्र शक्ति का प्रयोग करते हुए नियम अधिसूचित कर सकते हैं। किन्तु एक बार जब न्यायिक संवर्ग में पदों का सृजन हो चुका हो और जिला संवर्ग अथवा अधीनस्थ संवर्ग में विद्यमान स्वीकृत पदों पर रिक्तियों को भरने का प्रश्न उत्पन्न हो, तब प्रत्यक्ष भर्ती संविधान के अनुच्छेद 233(2) के अनुसार उच्च न्यायालय की संस्तुति पर ही की जानी चाहिए तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के संवर्ग में रिक्तियों पर भर्ती संविधान के अनुच्छेद 234 के अंतर्गत

राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श कर बनाई गई 1955 की नियमावली के अनुसार ही की जानी चाहिए और किसी अन्य प्रकार से नहीं। उन्होंने तर्क दिया कि इस प्रक्रिया को विनियमित करने के संबंध में किसी सर्वोपरि शक्ति के प्रयोग द्वारा विधायी हस्तक्षेप का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः उनका यह कहना था कि आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त दृष्टिकोण संवैधानिक योजना के अनुरूप पूर्णतः समर्थित है और उसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। हालाँकि उन्होंने निष्पक्षतापूर्वक यह स्वीकार किया कि जहाँ तक 1955 की नियमावली का संबंध है, उच्च न्यायालय की सहमति से राज्यपाल ने नियम निर्माण की शक्ति का प्रयोग करते हुए उक्त नियमों द्वारा नियंत्रित भर्ती प्रक्रिया में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति अभ्यर्थियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया है, और अधीनस्थ न्यायाधीशों तथा मुंसिफों के पदों की रिक्तियाँ इन्हीं नियमों के अनुसार भरी जानी हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कहा कि उच्च न्यायालय निरंतर इन पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती में अनुसूचित जाति के लिए 14 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति के लिए 10 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान का पालन करता रहा है, किन्तु इससे अधिक नहीं। जहाँ तक आक्षेपित अधिनियम का संबंध है, वह 1955 की प्रासंगिक नियमावली के अंतर्गत अनुमत आरक्षण योजना से बहुत आगे बढ़कर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए 50 प्रतिशत का व्यापक आरक्षण लागू करना चाहता है। ऐसा वैधानिक प्रावधान भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 एवं 234 के प्रत्यक्ष प्रतिकूल है और इसे बनाए नहीं रखा जा सकता; अतः उच्च न्यायालय द्वारा इसे निरस्त किया जाना उचित था।

निर्धारण के लिए बिंदुः

उपर्युक्त प्रतिद्वंद्वी तर्कों के आलोक में, हमारे विचारार्थ निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं— 1. क्या 1991 का आक्षेपित अधिनियम, अपनी स्पष्ट भाषा के आधार पर, बिहार राज्य की 'न्यायिक सेवा' को आच्छादित करता है;

2. यदि प्रश्न संख्या 1 का उत्तर सकारात्मक हो, तो क्या उक्त आक्षेपित अधिनियम के प्रावधान, विशेषतः उसकी धारा 4, अधीनस्थ न्यायपालिका पर लागू होने की सीमा तक भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 एवं 234 के *अधिकारातीत* हैं और इस कारण संधारणीय नहीं हैं;

3. वैकल्पिक रूप से, क्या अधिनियम के उपर्युक्त प्रावधानों का सीमित अर्थ करते हुए यह माना जाना आवश्यक है कि अधिनियम की धारा 4 उन पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती के संबंध में लागू नहीं होगी, जो 1951 की बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा नियमावली की अनुसूची में विनिर्दिष्ट बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा के अंतर्गत आते हैं, तथा न ही 1955 की बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली द्वारा शासित बिहार न्यायिक सेवा पर, जिसमें जिला न्यायपालिका के अधीन अधीनस्थ न्यायाधीशों और मुंसिफों के पद सम्मिलित हैं; तथा

4. अंतिम आदेश क्या हो?

उपर्युक्त निर्धारणीय बिंदुओं पर विचार करने से पूर्व, उन प्रासंगिक संवैधानिक प्रावधानों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा, जिनका इन बिंदुओं द्वारा उठाए गए विवाद के समाधान पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

संवैधानिक योजना :

संविधान का भाग XIV *संघ तथा राज्यों के अधीन सेवाओं से संबंधित है।* इसका अध्याय I, जिसमें अनुच्छेद 308 से 313 सम्मिलित हैं, सेवाओं से संबंधित है, जबकि अध्याय II, जिसमें अनुच्छेद 315 से 323 सम्मिलित हैं, लोक सेवा आयोगों से संबंधित है। अनुच्छेद 308 'राज्य' अभिव्यक्ति को परिभाषित करता है, जिसमें जम्मू एवं कश्मीर राज्य सम्मिलित नहीं है। किन्तु वर्तमान प्रयोजन के लिए प्रासंगिक अनुच्छेद 309 है, जो इस प्रकार है—

> *अनुच्छेद 309 – संघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तें।*

इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उपयुक्त विधानमंडल द्वारा बनाए गए अधिनियम संघ या किसी राज्य के कार्यकलापों से संबंधित लोक सेवाओं तथा पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा उनकी सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकेंगे :

परंतु यह कि, संघ के कार्यकलापों से संबंधित सेवाओं और पदों के मामले में राष्ट्रपति अथवा उनके द्वारा निर्देशित कोई अन्य व्यक्ति, तथा राज्य के कार्यकलापों से संबंधित सेवाओं और पदों के मामले में राज्यपाल अथवा उनके द्वारा निर्देशित कोई अन्य व्यक्ति, इस अनुच्छेद के अधीन उपयुक्त विधानमंडल द्वारा या उसके अधीन इस विषय में प्रावधान किए जाने तक, ऐसी सेवाओं और पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा उनकी सेवा की शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बनाने के लिए सक्षम होंगे; और इस प्रकार बनाए गए नियम, ऐसे किसी अधिनियम के उपबंधों के अधीन प्रभावी रहेंगे।"

इस अनुच्छेद पर एक साधारण दृष्टिपात मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि यह संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन है, और उस सीमा तक उपयुक्त विधानमंडल अथवा राज्यपाल संबंधित राज्य के कार्यकलापों से संबंधित लोक सेवाओं तथा पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती एवं सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकते हैं। इस अनुच्छेद का परंतुक राज्यपाल को यह अधिकार प्रदान करता है कि यदि उपर्युक्त विषयों को नियंत्रित करने वाला कोई वैधानिक प्रावधान विद्यमान न हो, तो वह उस रिक्ति की पूर्ति कर सके। इस उद्देश्य से राज्यपाल ऐसी सेवाओं और पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बना सकता है, जब तक कि इस संबंध में सक्षम विधानमंडल द्वारा या उसके अधीन कोई प्रावधान न कर दिया जाए; तत्पश्चात सक्षम विधानमंडल हस्तक्षेप कर इस विषय में उपयुक्त वैधानिक प्रावधान अधिनियमित कर सकता है। अनुच्छेद 309 द्वारा अभिप्रेत सेवाओं में भर्ती की प्रक्रिया अध्याय II, जो लोक सेवा आयोगों से संबंधित है, द्वारा विनियमित की

गई है। अनुच्छेद 320, *जो लोक सेवा आयोगों के कर्तव्यों से संबंधित है,* उन्हें संघ की सेवाओं तथा राज्य की सेवाओं में नियुक्ति हेतु परीक्षाएँ आयोजित करने का दायित्व प्रदान करता है। यह स्वाभाविक रूप से अनुच्छेद 309 द्वारा परिकल्पित सेवाओं के प्रकारों से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध है।

भाग VI (अध्याय V एवं VI) में न्यायिक सेवाओं हेतु विशेष संवैधानिक व्यवस्था :

यह ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 309 के सामान्य प्रावधानों से स्वतंत्र रूप से, संविधान ने कुछ सेवाओं के लिए विशेष प्रावधान किए हैं। भले ही वे लोक सेवाओं का हिस्सा हों, फिर भी ऐसी सेवाओं द्वारा शासित अधिकारियों की भर्ती और सेवाओं की शर्तों को विनियमित करने के लिए अलग-अलग संवैधानिक योजनाओं की परिकल्पना की गई है। आइए हम ऐसी सेवाओं पर एक नज़र डालते हैं जिन पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है।

संविधान का भाग VI, जो राज्यों से संबंधित है, पृथक रूप से अध्याय II में कार्यपालिका से संबंधित प्रावधान करता है; अध्याय III में राज्य विधानमंडल से संबंधित है; तत्पश्चात अध्याय IV, जो राज्यपाल की विधायी शक्तियों से संबंधित है; और इसके बाद अध्याय V, जो राज्यों के उच्च न्यायालयों से संबंधित है, तथा अध्याय VI, जो अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित है। अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित अध्याय VI में ही हमें अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, अनुच्छेद 234 के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्तियों की न्यायिक सेवा में भर्ती, तथा अनुच्छेद 235 के अंतर्गत अधीनस्थ न्यायालयों पर उच्च न्यायालय के नियंत्रण संबंधी प्रावधान प्राप्त होते हैं। अनुच्छेद 236 'व्याख्या' के विषय से संबंधित है और इसकी उपधारा (बी) में 'न्यायिक सेवा' अभिव्यक्ति को परिभाषित करते हुए इसका अर्थ बताया गया है— "ऐसी सेवा जिसमें विशेष रूप से वे व्यक्ति सम्मिलित हों, जिनका उद्देश्य जिला न्यायाधीश के पद तथा जिला न्यायाधीश के पद से निम्न अन्य दीवानी न्यायिक पदों को भरना हो।" अतः यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने राज्य की 'न्यायिक सेवाओं' के संबंध में पृथक रूप से विचार किया और जिला

न्यायाधीशों के पदों तथा उनसे निम्न अन्य दीवानी न्यायिक पदों पर भर्ती के संबंध में विशिष्ट एवं पृथक प्रावधान किए। इस प्रकार, संविधान के एक सर्वथा भिन्न भाग में स्थित ये प्रावधान अपने आप में स्वतंत्र हैं और राज्य की सामान्य सेवाओं से संबंधित भाग XIV से पृथक स्थिति रखते हैं। अतः अनुच्छेद 309, जो अपने स्पष्ट शब्दों में संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन है, उस सीमा तक सीमित हो जाता है जहाँ उसकी सामान्य कार्यक्षेत्र से एक पृथक एवं विशिष्ट क्षेत्र निकालकर संविधान के भाग VI के अध्याय VI में निहित अधीनस्थ न्यायपालिका संबंधी अनुच्छेदों के संचालन हेतु सुरक्षित किया गया है। इन प्रावधानों का आगे इस निर्णय के उपयुक्त चरण में विस्तार से संदर्भ लिया जाएगा। हम इस स्तर पर अनुच्छेद 146 का भी उल्लेख कर सकते हैं, जो सर्वोच्च न्यायालय के अधीन सेवाओं से संबंधित है। यह अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति की प्रक्रिया निर्धारित करता है तथा इसकी उपधारा (2) में यह उपबंधित है कि— "संसद द्वारा बनाए गए किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की सेवा की शर्तें ऐसी होंगी, जैसी कि भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा, अथवा इस प्रयोजन हेतु उनके द्वारा प्राधिकृत न्यायालय के किसी अन्य न्यायाधीश या अधिकारी द्वारा बनाए गए नियमों में विनिर्दिष्ट की जाएँ।" इसी प्रकार का प्रावधान अनुच्छेद 229 में भी पाया जाता है, जो उच्च न्यायालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की भर्ती तथा उनके व्यय से संबंधित है। इसकी उपधारा (2) संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, अथवा उनके द्वारा इस प्रयोजन हेतु प्राधिकृत किसी अन्य न्यायाधीश या न्यायालय के अधिकारी को नियम बनाने की शक्ति प्रदान करती है, जो राज्य विधानमंडल द्वारा बनाए गए किसी विधि के अधीन होती है। अनुच्छेद 148 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक से संबंधित है। इसकी उपधारा (5) भारतीय लेखा एवं लेखा-परीक्षा विभाग में कार्यरत व्यक्तियों की सेवा-शर्तों तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की प्रशासनिक शक्तियों के संबंध में राष्ट्रपति की नियम निर्माण शक्ति का प्रावधान करती है, जो इस विषय में संविधान अथवा

संसद द्वारा बनाए गए किसी विधि के अधीन है। अनुच्छेद 98 संसद के सचिवालय से संबंधित है। इसकी उपधारा (3) यह उपबंध करती है कि— "जब तक संसद उपधारा (2) के अधीन कोई प्रावधान नहीं करती, तब तक राष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष अथवा राज्यसभा के सभापति, जैसा भी मामला हो, से परामर्श करने के पश्चात लोकसभा अथवा राज्यसभा के सचिवालय कर्मचारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा की शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बना सकता है, और इस प्रकार बनाए गए नियम उक्त उपधारा के अधीन बनाए गए किसी विधि के उपबंधों के अधीन प्रभावी होंगे।" इसी प्रकार, राज्य विधानमंडल के सचिवालय के संबंध में अनुच्छेद 187 है, जो राज्य विधानमंडल के प्रत्येक सदन अथवा दोनों सदनों के लिए पृथक सचिवालय कर्मचारियों की व्यवस्था से संबंधित है। इसकी उपधारा (3), अनुच्छेद 98 की उपधारा (3) के समानांतर है और यह उपबंध करती है कि— "जब तक राज्य का विधानमंडल उपधारा (2) के अधीन कोई प्रावधान नहीं करता, तब तक राज्यपाल, जैसा भी मामला हो, विधान सभा के अध्यक्ष अथवा विधान परिषद के सभापति से परामर्श करने के पश्चात, विधानसभा या परिषद के सचिवालय कर्मचारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा की शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बना सकेगा, और इस प्रकार बनाए गए नियम उक्त उपधारा के अधीन बनाए गए किसी विधि के उपबंधों के अधीन प्रभावी होंगे।" अनुच्छेद 324, जो भाग XV में स्थित है, निर्वाचन के अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण को निर्वाचन आयोग में निहित करने से संबंधित है। इसकी उपधारा (5) यह प्रावधान करती है कि— "संसद द्वारा बनाए गए किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, निर्वाचन आयुक्तों तथा क्षेत्रीय आयुक्तों की सेवा की शर्तें और पदावधि ऐसी होगी, जैसी राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करे।"

उपर्युक्त संवैधानिक प्रावधान स्पष्ट रूप से यह संकेत करते हैं कि भाग XIV में उल्लिखित सेवाओं संबंधी सामान्य प्रावधानों से स्वतंत्र रूप से, संविधान के अन्य भागों में परिकल्पित विभिन्न प्रकार की सेवाओं के लिए उनकी भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु अपनी पृथक प्रक्रियात्मक व्यवस्थाएँ निर्धारित की गई हैं। अतः भाग XIV में

निहित अनुच्छेद 309 को अनिवार्यतः इन विशेष प्रावधानों के अधीन पढ़ा जाना होगा, जो विभिन्न प्रकार की सेवाओं की भर्ती एवं सेवा-शर्तों के संबंध में संविधान के पृथक-पृथक प्रावधानों द्वारा शासित हैं, जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है।

अन्य जिस अनुच्छेद का उल्लेख किया जाना आवश्यक है, वह संविधान का अनुच्छेद 16 की उपधारा (4) है, जो राज्य को यह अधिकार प्रदान करती है कि वह नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग के पक्ष में, जिसकी राज्य की राय में राज्य की सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है, नियुक्तियों अथवा पदों के आरक्षण का प्रावधान कर सके। इस प्रावधान को अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ा जाना चाहिए, जो सेवाओं एवं पदों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के दावों से संबंधित है तथा यह उपबंध करता है कि— "संघ अथवा किसी राज्य के कार्यकलापों से संबंधित सेवाओं एवं पदों पर नियुक्तियाँ करते समय अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों पर प्रशासनिक दक्षता बनाए रखने के अनुरूप विचार किया जाएगा।" यद्यपि अनुच्छेद 335 की स्पष्ट भाषा में अन्य पिछड़े वर्गों का उल्लेख नहीं है, तथापि इस न्यायालय की नौ-न्यायाधीशीय संविधान पीठ ने *इंद्रा साहनी एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य,* [1992 पूरक (3) एस.सी.सी. 217] में यह स्थापित किया है कि अन्य पिछड़े वर्ग भी अनुच्छेद 335 की भावना के अंतर्गत आते हैं। उस दृष्टिकोण की पुनः पुष्टि की गई तथा उसका अनुसरण इस न्यायालय की हाल की त्रि-न्यायाधीशीय पीठ द्वारा *इंद्रा साहनी बनाम भारत संघ एवं अन्य,* [2000] 1 एस.सी.सी. 168 में किया गया, जिसमें न्यायमूर्ति जगन्नाथ राव ने पीठ की ओर से निर्णय देते हुए इस स्थिति को विशेष रूप से स्पष्ट किया। अतः, यदि अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत राज्य सेवाओं में कुछ पिछड़े वर्गों के अपर्याप्त प्रतिनिधित्व के आधार पर आरक्षण प्रदान करने का प्रस्ताव करता है, परंतु सक्षम प्राधिकारी की यह राय हो कि ऐसा आरक्षण प्रशासनिक दक्षता पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा, तो अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत उस शक्ति का प्रयोग अनुमेय नहीं होगा। यही आरक्षण संबंधी सक्षमकारी शक्ति के प्रयोग पर संवैधानिक सीमा है। जैसा कि हम

अभी प्रदर्शित करेंगे, यह प्रश्न कि अनुच्छेद 233 एवं 234 के अधीन आने वाली अधीनस्थ न्यायपालिका में यदि आरक्षण प्रदान किया जाए तो क्या उससे न्यायिक प्रशासन की दक्षता प्रभावित होगी, ऐसा विषय है जो विशेष रूप से उच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में आता है, और इस विषय में उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना अनिवार्य है। ऐसा परामर्श आरक्षण संबंधी कोई भी नियम बनाए जाने से पूर्व एक संवैधानिक दायित्व है।

प्रासंगिक संवैधानिक प्रावधानों के इस संक्षिप्त विवेचन को समाप्त करने से पूर्व, हम अनुच्छेद 50 का भी उल्लेख कर सकते हैं, जो राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में यह उपबंध करता है कि राज्य लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने हेतु आवश्यक कदम उठाएगा।

अनुच्छेद 245 एवं 246 के अधीन विधायी शक्तियाँ अन्य प्रावधानों, जिनमें अनुच्छेद 233, 234 और 235 सम्मिलित हैं, के अधीन हैं :

हम संविधान के भाग XI, विशेषकर अध्याय I, जो विधायी संबंधों तथा विधायी शक्तियों के वितरण से संबंधित है, का भी उल्लेख कर सकते हैं। अनुच्छेद 245 संसद तथा राज्य विधानमंडलों द्वारा बनाए गए विधियों के क्षेत्रीय विस्तार से संबंधित है। इसकी उपधारा (1) यह उपबंध करती है कि— "इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, संसद भारत के संपूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी, तथा किसी राज्य का विधानमंडल उस संपूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा।" अतः संसद तथा राज्य विधानमंडल की विधायी शक्तियाँ स्पष्ट रूप से संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन हैं। इसी प्रकार, अनुच्छेद 246, जो सातवीं अनुसूची की सूची I, II एवं III में वर्णित विषयों के संबंध में संसद तथा राज्य विधानमंडलों द्वारा विधि निर्माण के विषय-वर्ग निर्धारित करता है, उसे भी अनुच्छेद 245 के अधीन पढ़ा जाना होगा। अर्थात्, यदि संविधान के अन्य प्रावधान किसी विशिष्ट विषय के संबंध में संसद या राज्य विधानमंडल की विधायी शक्ति को

सीमित करते हैं अथवा उसका अपवर्जन करते हैं, तो उन अन्य प्रावधानों को उनका पूर्ण प्रभाव और संचालन प्रदान किया जाना चाहिए।

अनुच्छेद 233, 234 और 235 :

जहाँ तक जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती का संबंध है, हमें संविधान के भाग VI के अध्याय VI, जो "अधीनस्थ न्यायालयों" से संबंधित है, में निहित इन दोनों महत्वपूर्ण अनुच्छेदों की ओर दृष्टि करनी होगी।

संबंधित अनुच्छेद इस प्रकार हैं :

> 233. *जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति :* (1) किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों के पद पर व्यक्तियों की नियुक्ति, उनकी पदस्थापना तथा पदोन्नति, उस राज्य के राज्यपाल द्वारा उस राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जाएगी।
>
> (2) जो व्यक्ति संघ या राज्य की सेवा में पहले से न हो, वह तभी जिला न्यायाधीश नियुक्त किए जाने के लिए पात्र होगा जब वह कम-से-कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो तथा *उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसा की गई हो।*
>
> *234. जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्तियों की न्यायिक सेवा में भर्ती :* राज्य की न्यायिक सेवा में जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा, इस संबंध में उसके द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार, राज्य लोक सेवा आयोग तथा उस राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात की जाएगी।
>
> (स्वरेखांकित किया गया)

अनुच्छेद 233, जो जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित है, अपनी स्पष्ट शब्दावली में ही जिला न्यायपालिका में जिला न्यायाधीशों के रूप में व्यक्तियों की नियुक्ति संबंधी एक पूर्ण योजना प्रस्तुत करता है। वर्तमान अपीलों में हमारा संबंध जिला न्यायाधीशों के संवर्ग में प्रत्यक्ष भर्ती से है; अतः अनुच्छेद 233 की उपधारा (2) विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती है। यह प्रावधान न केवल बार से सीधे जिला न्यायाधीश नियुक्त किए जाने वाले अभ्यर्थियों के लिए पात्रता की शर्त निर्धारित करता है, बल्कि इस अतिरिक्त शर्त से भी आबद्ध है कि केवल वही व्यक्ति राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जा सकते हैं, जिनकी नियुक्ति हेतु उच्च न्यायालय ने अनुशंसा की हो। इसी प्रकार, जिला न्यायाधीशों से भिन्न न्यायिक अधिकारियों की निम्न स्तर की न्यायिक सेवा में भर्ती हेतु अनुच्छेद 234 के अंतर्गत एक संपूर्ण योजना प्रदान की गई है, जिसके अनुसार राज्यपाल ऐसी नियुक्तियाँ उन नियमों के अनुरूप कर सकता है, जो उसके द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग तथा संबंधित उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात बनाए गए हों। जहाँ तक लोक सेवा आयोग का संबंध है, अनुच्छेद 320 से स्पष्ट है कि विज्ञापित पदों पर भर्ती की जो प्रक्रिया अपनाई जानी है, उसका निर्धारण उसी में किया गया है। किन्तु लोक सेवा आयोग की भूमिका तभी प्रारंभ होती है जब किसी संवर्ग के पदों को प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरा जाना हो और इस उद्देश्य से राज्य प्राधिकारियों द्वारा आयोग को समुचित सूचना दी जाए। अधीनस्थ न्यायपालिका के पदों पर भर्ती के संबंध में आयोग को स्पष्टतः उच्च न्यायालय के परामर्श से कार्य करना होता है। निस्संदेह, यह निर्णय करना कि जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायाधीशों के संवर्ग में कितनी रिक्तियाँ प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरी जानी हैं—जहाँ तक जिला न्यायपालिका का संबंध है—और अधीनस्थ न्यायपालिका के संबंध में जहाँ आवश्यक हो, केवल प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरी जानी हैं—यह निर्णय करना उच्च न्यायालय का कार्यक्षेत्र है। उच्च न्यायालय की यह प्रधान भूमिका अनुच्छेद 235 से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, जो अधीनस्थ न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायालयों पर उच्च न्यायालय के नियंत्रण से संबंधित है। उक्त अनुच्छेद इस प्रकार प्रावधान करता है :

"235. अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण : जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण, जिसमें राज्य की न्यायिक सेवा से संबंधित तथा जिला न्यायाधीश के पद से निम्न किसी पद पर आसीन व्यक्तियों की पदस्थापना, पदोन्नति तथा अवकाश प्रदान करना सम्मिलित है, उच्च न्यायालय में निहित होगा; किन्तु इस अनुच्छेद की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि इससे ऐसे किसी व्यक्ति के उस अपील के अधिकार का अपहरण होता है, जो उसे उसकी सेवा की शर्तों को विनियमित करने वाले विधि के अधीन प्राप्त हो, अथवा यह कि उच्च न्यायालय को उसे उस विधि के अधीन विनिर्दिष्ट सेवा-शर्तों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से व्यवहार करने का अधिकार प्राप्त हो।"

उपर्युक्त प्रासंगिक संवैधानिक योजना के आलोक में अब हम उस मुख्य विवाद का निराकरण करने के लिए अग्रसर होते हैं, जो हमारे विचारार्थ प्रस्तुत किया गया है।

बिंदु संख्या 1 :

जहाँ तक इस बिंदु का संबंध है, हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम उन कारणों अथवा परिस्थितियों की विवेचना करें, जिनके कारण अपीलकर्ता-राज्य ने आक्षेपित अधिनियम को अधिनियमित करने हेतु अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग किया। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या अधिनियम, जैसा कि अधिनियमित किया गया है, अपनी स्पष्ट भाषा के आधार पर राज्य की "न्यायिक सेवा" पर लागू होता है या नहीं। जब हम इस अधिनियम की ओर देखते हैं, तो पाते हैं कि इसे राज्य के अधीन पदों एवं सेवाओं में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया है।धारा 2(एन) में "राज्य" की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— "बिहार राज्य की सरकार, विधानमंडल तथा न्यायपालिका और राज्य के भीतर अथवा राज्य सरकार के नियंत्रणाधीन सभी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण।" अतः यह नहीं कहा जा सकता

कि अधिनियम, जैसा निर्मित किया गया है, बिहार राज्य की न्यायपालिका को अपने दायरे में सम्मिलित करने का प्रयत्न नहीं करता। अधिनियम का मुख्य प्रावधान, जो वर्तमान विवाद के केंद्र में है, धारा 4 है, जो इस प्रकार है :

> "*4. प्रत्यक्ष भर्ती हेतु आरक्षण* — किसी स्थापना में सेवाओं एवं पदों पर की जाने वाली सभी नियुक्तियाँ, जो प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरी जानी हैं, निम्नलिखित प्रकार से विनियमित की जाएँगी, अर्थात्—
>
> (1) उपलब्ध रिक्तियाँ निम्न प्रकार से भरी जाएँगी :
>
> | | |
> |---|---|
> | (क) खुली मेविनिर्दिष्ट आदेश श्रेणी से — | 50% |
> | (ख) आरक्षित श्रेणी से — | 50% |
>
> (2) आरक्षित श्रेणी के उक्त 50% पदों में विभिन्न आरक्षित वर्गों के लिए रिक्तियों का विभाजन, इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, निम्नानुसार होगा :—
>
> | | |
> |---|---|
> | (क) अनुसूचित जाति — | 14% |
> | (ख) अनुसूचित जनजाति — | 10% |
> | (ग) अत्यंत पिछड़ा वर्ग — | 12% |
> | (घ) पिछड़ा वर्ग — | 8% |
> | (ङ) आर्थिक रूप से पिछड़ी महिलाएँ — | 3% |
> | (च) आर्थिक रूप से पिछड़ा वर्ग — | 3% |
> | कुल — | 50%" |
>
> बशर्ते कि राज्य सरकार, आधिकारिक राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, ऐसे जिलों में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की

जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार विभिन्न जिलों के लिए अलग-अलग प्रतिशत निर्धारित कर सकती हैः

बशर्ते कि पदोन्नति के मामले में, आरक्षण केवल अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए उसी अनुपात में किया जाएगा जो इस धारा में दिया गया है।

(3) कोई आरक्षित श्रेणी का अभ्यर्थी यदि अपनी योग्यता (मेरिट) के आधार पर चयनित होता है, तो उसे खुली मेविनिर्दिष्ट आदेश श्रेणी की 50% रिक्तियों के विरुद्ध समायोजित किया जाएगा, न कि आरक्षित श्रेणी की रिक्तियों के विरुद्ध।

(4) इस अधिनियम अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या नियम, अथवा किसी न्यायालय के किसी निर्णय या डिक्री में निहित किसी प्रतिकूल प्रावधान के होते हुए भी, उपधारा (3) के प्रावधान उन सभी मामलों पर लागू होंगे, जिनमें 1 नवम्बर, 1990 से पूर्व चयन की समस्त औपचारिकताएँ पूर्ण हो चुकी थीं, किन्तु नियुक्ति-पत्र निर्गत नहीं किए गए थे।"

(5) अनुसूचित जातियों / अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियाँ, इस अधिनियम में अन्यथा उपबंधित किए जाने के अतिरिक्त, उन अभ्यर्थियों द्वारा नहीं भरी जाएँगी जो अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति अथवा अन्य पिछड़े वर्गों से संबंधित नहीं हैं।

(6) (क) यदि अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित रिक्तियों पर नियुक्ति अथवा पदोन्नति हेतु उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध न हों, तो वे रिक्तियाँ तीन भर्ती वर्षों तक आरक्षित बनी रहेंगी। यदि तृतीय वर्ष में भी उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध न हों, तो इन रिक्तियों का अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के मध्य परस्पर विनिमय किया जाएगा, और इस प्रकार

विनिमय द्वारा भरी गई रिक्तियाँ उस विशेष समुदाय के लिए आरक्षित मानी जाएँगी, जिसके अभ्यर्थियों की वास्तव में नियुक्ति की गई हो।

(ख) यदि अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षित रिक्तियों हेतु उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध न हों, तो वे रिक्तियाँ भी तीन भर्ती वर्षों तक आरक्षित बनी रहेंगी। यदि तृतीय वर्ष में भी उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध न हों, तो इन रिक्तियों को अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों के मध्य परस्पर विनिमय द्वारा भरा जाएगा, और इस प्रकार भरी गई रिक्तियाँ उस विशेष समुदाय के लिए आरक्षित मानी जाएँगी, जिसके अभ्यर्थियों की वास्तव में नियुक्ति हुई हो।

(ग) यदि आर्थिक रूप से पिछड़ी महिलाओं के लिए आरक्षित रिक्तियों हेतु उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध न हों, तो उन रिक्तियों को क्रमशः—अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों से, तत्पश्चात अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों से, उसके बाद अत्यंत पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों से, तथा अंततः पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों से भरा जाएगा। इस प्रकार इस लेन-देन (विनिमय) द्वारा भरी गई रिक्तियाँ उस विशेष समुदाय के लिए आरक्षित मानी जाएँगी, जिसके अभ्यर्थियों की वास्तव में नियुक्ति की गई हो।

(घ) यदि किसी भर्ती वर्ष में अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति, अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों की संख्या, विनिमय सूत्र लागू किए जाने के पश्चात भी, उनके लिए आरक्षित रिक्तियों की संख्या से कम रह जाती है, तो शेष लंबित रिक्तियों को अनारक्षित घोषित करके सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों द्वारा भरा जा सकेगा; किन्तु इस प्रकार अनारक्षित की गई रिक्तियों को तीन भर्ती वर्षों तक आगे के लिए संचरित किया जाएगा ।

(ङ) यदि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के आवश्यक संख्या में अभ्यर्थी आरक्षित रिक्तियों को भरने हेतु उपलब्ध न हों, तो केवल लंबित रिक्तियों को भरने के उद्देश्य से, परिस्थिति अनुसार, केवल अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों के लिए नवीन विज्ञापनजारी किया जा सकेगा।

उक्त प्रावधान का साधारण अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि किसी भी स्थापना में सेवाओं एवं पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा की जाने वाली सभी नियुक्तियाँ आरक्षण के अधीन होंगी, जिससे उपलब्ध समस्त रिक्तियाँ केवल 50% तक खुली श्रेणी के अभ्यर्थियों से तथा शेष 50% आरक्षित श्रेणी के अभ्यर्थियों से भरी जानी होंगी। यह आक्षेपित नहीं है कि जिला न्यायाधीशों तथा जिला न्यायपालिका के अधीनस्थ न्यायाधीशों के पद भी न्यायिक सेवा के पद हैं। प्रश्न यह है कि क्या "किसी स्थापना के पद" वाक्यांश इन न्यायिक पदों को भी नियंत्रित करता है। इसलिए हमें अधिनियम की धारा 2(ग) में निहित "स्थापना" की परिभाषा की ओर देखना होगा। संबंधित प्रावधान के अनुसार— "स्थापना" से अभिप्राय राज्य के किसी ऐसे कार्यालय या विभाग से है, जो राज्य के कार्यों से संबंधित लोक सेवाओं एवं पदों पर नियुक्तियों से संबंधित हो। धारा 2(एन) में "राज्य" की परिभाषा तथा धारा 2(सी) में "स्थापना" की परिभाषा का संयुक्त रूप से अवलोकन करने पर निम्नलिखित वैधानिक योजना उभरकर सामने आती है— बिहार राज्य की न्यायपालिका का कोई भी कार्यालय या विभाग, जो बिहार राज्य की न्यायपालिका के कार्यों से संबंधित लोक सेवाओं एवं पदों पर नियुक्तियों से संबद्ध है, "स्थापना" शब्द की परिधि में आएगा। जब अधिनियम की इस योजना से यह निष्कर्ष निकलता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहार राज्य की न्यायपालिका के किसी भी कार्यालय या विभाग में सेवाओं एवं पदों पर की जाने वाली सभी नियुक्तियाँ धारा 4 के दायरे में आएँगी। अधिनियम की उपर्युक्त योजना के आधार पर, उच्च

न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह मत व्यक्त किया है कि बिहार राज्य की न्यायपालिका के कार्यालयों या विभागों पर धारा 4 का संचालन केवल जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों के लिपिकीय कर्मचारियों तक सीमित रहेगा और इसमें पीठासीन अधिकारी सम्मिलित नहीं होंगे। अतः उच्च न्यायालय के अनुसार, धारा 4 जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के पीठासीन अधिकारियों के पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती को नियंत्रित नहीं करेगी। संबंधित प्रावधानों की स्पष्ट भाषा के आलोक में, धारा 4 को परिभाषात्मक प्रावधानों के साथ पढ़ने पर, उच्च न्यायालय द्वारा अपनाई गई इस तर्कपद्धति को स्वीकार करना कठिन है। यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहार राज्य की न्यायपालिका के "किसी भी कार्यालय" शब्द में स्वाभाविक रूप से केवल लिपिकीय कर्मचारी ही नहीं, बल्कि अधिकारीगण, जिनमें न्यायालयों के पीठासीन अधिकारी भी सम्मिलित हैं, शामिल होंगे। जब अधिनियम के प्रासंगिक प्रावधानों की स्पष्ट भाषा के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि धारा 4 का प्रभाव जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों के पीठासीन अधिकारियों के पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती में आरक्षण को नियंत्रित करने हेतु लागू नहीं होगा; क्योंकि वे सभी बिहार राज्य की न्यायपालिका का अभिन्न अंग हैं तथा उन्हें राज्य न्यायपालिका के पदधारक माना जाएगा। फलतः, उच्च न्यायालय की ओर से वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ठाकुर द्वारा प्रस्तुत यह तर्क स्वीकार करना संभव नहीं है कि अधिनियम के स्पष्ट प्रावधानों के आधार पर धारा 4 अधीनस्थ न्यायपालिका के पदों पर भर्ती को नियंत्रित नहीं कर सकती। अतः निर्धारण हेतु प्रथम बिंदु का उत्तर अपीलकर्ताओं के पक्ष में तथा उत्तरदाताओं के विरुद्ध सकारात्मक रूप से दिया जाना आवश्यक है।

बिंदु संख्या 2:

चूँकि यह माना गया है कि आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 अपने स्पष्ट शब्दों में बिहार राज्य की जिला न्यायपालिका के संवर्ग तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के पदों पर

प्रत्यक्ष भर्ती को आच्छादित करती है, इसलिए मुख्य प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या धारा 4 को उन प्रासंगिक संवैधानिक व्यवस्थाओं की कसौटी पर टिकाया जा सकता है जो इन पदों पर भर्ती एवं नियुक्तियों को नियंत्रित करती हैं। इस समस्या के समाधान के लिए हमें संविधान की उन प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा जो राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में निहित अनुच्छेद 50 से उद्भूत होती हैं, जो न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने की आवश्यकता पर बल देता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधान ने जिला न्यायाधीशों के संवर्ग तथा अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती और नियुक्ति के संबंध में पृथक प्रावधान किए हैं, जैसा कि संविधान के भाग VI के अध्याय VI में पाया जाता है, और जैसा कि पूर्व में देखा गया है, ये प्रावधान जानबूझकर भाग XIV में सम्मिलित नहीं किए गए हैं, जो सामान्य रूप से संघ एवं राज्यों की सेवाओं से संबंधित है। अनुच्छेद 309 स्वयं, जो सामान्य प्रकृति का है और संघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों के विनियमन से संबंधित है, संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन स्पष्ट रूप से बनाया गया है।

अनुच्छेद 235 का प्रथम भाग स्वयं यह उपबंधित करता है कि जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय का होगा और उच्च न्यायालय में निहित इस नियंत्रण के प्रयोग में न्यायिक सेवा से संबंधित व्यक्तियों की पदस्थापना, पदोन्नति तथा अवकाश प्रदान करने का कार्य उच्च न्यायालय द्वारा किया जाएगा। निस्संदेह, यह सत्य है कि अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग में पहले से सेवा में नियुक्त न्यायिक अधिकारियों के वैधानिक अपील के अधिकार तथा वर्तमान में प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अंतर्गत उनकी अन्य सेवा-शर्तों के संबंध में व्यवहार किए जाने के अधिकार को स्पष्ट रूप से संरक्षित किया गया है। परंतु द्वितीय भाग के ये प्रावधान केवल इतना सक्षम बनाते हैं कि अनुच्छेद 309 के अंतर्गत, यदि सक्षम विधायिका द्वारा न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु कोई वैधानिक अधिनियम न बनाया गया हो, और वे अधिकारी पहले ही भर्ती

होकर राज्य सेवा का अंग बन चुके हों, तब राज्यपाल इस विषय पर उपयुक्त नियम बना सके। किन्तु जहाँ तक प्रवेश स्तर का प्रश्न है, अर्थात् उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालयों के पीठासीन अधिकारियों के पदों पर भर्ती एवं नियुक्ति का संबंध है, वहाँ केवल अनुच्छेद 233 और 234 ही इस क्षेत्र को नियंत्रित करेंगे। अनुच्छेद 234 अधीनस्थ न्यायाधीशों तथा मुंसिफों के रूप में न्यायिक अधिकारियों की निम्नतम स्तर पर भर्ती की प्रक्रिया और विधि का प्रावधान करता है, जैसा कि 1955 के नियमों में निर्धारित है। ये नियम भी बिहार के राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 234 के अंतर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, स्पष्टतः उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करने के पश्चात बनाए गए हैं। राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा अपनाई जाने वाली चयन प्रक्रिया संबंधी नियम, जो नियम 4 से 17 में निहित हैं, उन विधियों का निर्धारण करते हैं जिन्हें आयोग विज्ञापित पदों के लिए आवेदन करने वाले अभ्यर्थियों के चयन के समय अपनाएगा। ये नियम स्पष्टतः चयन प्रक्रिया के प्रक्रियात्मक पहलुओं पर आयोग से परामर्श की अपेक्षा करते हैं। परंतु जहाँ तक उच्च न्यायालय का संबंध है, उसका परामर्श अनुच्छेद 233 की मूल भावना के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो जाता है, क्योंकि अंततः चयनित होकर जो अभ्यर्थी न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर न्यायाधीश के रूप में कार्य करेंगे, उन पर नियंत्रण उच्च न्यायालय का ही होगा, और उनकी पदस्थापना, पदोन्नति, अवकाश तथा अन्य न्यायिक नियंत्रण अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग के अनुसार केवल उच्च न्यायालय में निहित होगा, जब वे निम्न स्तर पर न्यायिक सेवा में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार, अनुच्छेद 234 के अंतर्गत राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से किया जाने वाला परामर्श, चयन प्रक्रिया के प्रक्रियात्मक पक्ष के संबंध में लोक सेवा आयोग से किए जाने वाले परामर्श से पूर्णतः भिन्न प्रकार का है। जहाँ तक जिला न्यायाधीशों के पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती का प्रश्न है, अनुच्छेद 233 का उप-अनुच्छेद (2) किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं छोड़ता कि जब तक अभ्यर्थी की संस्तुति उच्च न्यायालय द्वारा न की जाए, तब तक राज्यपाल उसे जिला न्यायाधीश नियुक्त नहीं कर

सकता। अतः अनुच्छेद 233 और 234 मिलकर एक सुव्यवस्थित एवं पूर्ण योजना प्रस्तुत करते हैं, जो एक ओर जिला न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर अर्थात् जिला न्यायाधीशों की नियुक्तियों तथा दूसरी ओर जिला न्यायालय के अधीनस्थ न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर अधीनस्थ न्यायाधीशों की नियुक्तियों को नियंत्रित करती है। इस प्रकार अधीनस्थ न्यायपालिका एक पिरामिडीय संरचना का प्रतिनिधित्व करती है। इसके आधार स्तर अर्थात् निम्नतम स्तर पर मुंसिफ और दण्डाधिकारी होते हैं, जिनकी भर्ती अनुच्छेद 234 द्वारा नियंत्रित होती है। यह न्यायपालिका का प्रथम स्तर है। दूसरा स्तर उन न्यायिक अधिकारियों का है जो निम्न स्तर पर पहले से भर्ती हो चुके हैं और जिनके कार्यों पर अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग के अंतर्गत उच्च न्यायालय का नियंत्रण होता है। इस पिरामिड के शीर्ष पर जिला न्यायाधीशों के पद हैं। इन पदों पर भर्ती अनुच्छेद 233 द्वारा नियंत्रित होती है। यह अधीनस्थ न्यायपालिका का तृतीय एवं सर्वोच्च स्तर है।

यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि न तो अनुच्छेद 233 और न ही अनुच्छेद 234 में ऐसा कोई उपबंध है कि वे सक्षम विधायिका द्वारा बनाए गए किसी अधिनियम के अधीन होंगे, जैसा कि हमें अनुच्छेद 98, 146, 148, 187, 229(2) तथा 324(5) में देखने को मिलता है। इन उत्तरवर्ती अनुच्छेदों में संबंधित प्राधिकारियों की नियम बनाने की शक्ति को संसद या विधायिका द्वारा बनाए गए विधि के अधीन रखा गया है। ऐसा प्रावधान भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 में स्पष्ट रूप से अनुपस्थित है। अतः अपीलकर्ता-राज्य की ओर से उपस्थित अधिवक्ता की इस दलील से सहमत होना संभव नहीं है कि ये अनुच्छेद केवल राज्यपाल की नियम निर्माण शक्ति से संबंधित हैं, परंतु सक्षम विधायिका की विधायी शक्ति को प्रभावित नहीं करते। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब संविधान स्वयं जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती एवं नियुक्ति के विनियमन हेतु एक पूर्ण संहिता प्रदान करता है, तब यह व्यवस्था किसी भी बाहरी प्राधिकरण के हस्तक्षेप से संरक्षित हो जाती है। हमें संविधान की योजना और उसके मूल ढाँचे को भी

ध्यान में रखना होगा, जिसके अनुसार कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक रखा जाना आवश्यक है। इसलिए अनुच्छेद 309 के सामान्य विस्तार को जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति संबंधी इस पूर्ण संहिता के अधीन पढ़ा जाना चाहिए।

इस संदर्भ में हमें अनुच्छेद 245 को भी ध्यान में रखना होगा, जो अपने स्पष्ट शब्दों में संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन बनाया गया है, जिनमें अनुच्छेद 233 और 234 भी सम्मिलित हैं। परिणामस्वरूप, चूँकि ये दोनों अनुच्छेद जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के आधार स्तर के न्यायाधीशों की भर्ती एवं नियुक्ति के संपूर्ण क्षेत्र को आच्छादित करते हैं, इसलिए इस क्षेत्र में राज्य विधायिका की अन्यथा सर्वोपरि विधायी शक्ति संविधान की योजना द्वारा स्वतः ही *उस सीमा तक* अपवर्जित हो जाती है। अतः अनुच्छेद 309 तथा अनुच्छेद 245—दोनों को उन्हीं अनुच्छेदों में प्रदत्त व्यवस्था के अनुसार अनुच्छेद 233 और 234 के अधीन पढ़ा जाना आवश्यक होगा।

यह सत्य है, जैसा कि अपीलकर्ता-राज्य की ओर से वरिष्ठ अधिवक्ता श्री द्विवेदी ने प्रस्तुत किया, कि अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत राज्य को सेवाओं में आरक्षण प्रदान करने का अधिकार प्राप्त है। किंतु जहाँ तक 'न्यायिक सेवा' का संबंध है, ऐसा आरक्षण राज्यपाल द्वारा अपनी नियम निर्माण शक्ति का प्रयोग करते हुए केवल उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात ही किया जा सकता है। उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती के विनियमन हेतु कोई वैधानिक प्रावधान अधिनियमित करना, अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती एवं नियुक्ति की उस संपूर्ण योजना के प्रतिकूल होगा तथा अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा ऐसे नियुक्तियों के संबंध में आरक्षित विशिष्ट क्षेत्र का प्रत्यक्ष अतिक्रमण करेगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उच्च न्यायालय, जो कि संवैधानिक प्राधिकारी हैं, उपयुक्त परिस्थितियों में अनुच्छेद 16(4) के सक्षमकारी प्रावधान का सहारा लेकर आरक्षण योजना की आवश्यकता से अनभिज्ञ रहेंगे। राज्यपाल, अनुच्छेद 233 और

234 के अंतर्गत भर्ती को विनियमित करने हेतु आरक्षण संबंधी उपयुक्त नियम बनाने के लिए उच्च न्यायालय से परामर्श कर सकते हैं। परंतु जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक विधायिका किसी अप्रत्यक्ष उपाय से, उच्च न्यायालय को पूर्णतः दरकिनार करते हुए और अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए, संविधान-निर्माताओं द्वारा जिला न्यायपालिका के लिए परिकल्पित भर्ती एवं नियुक्ति की मूल योजना को निष्प्रभावी या बाधित नहीं कर सकती। ऐसा प्रयास न केवल संवैधानिक योजना द्वारा पूर्णतः निषिद्ध है, बल्कि यह "विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के मध्य शक्तियों के पृथक्करण" की अवधारणा तथा "स्वतंत्र न्यायपालिका" की मूलभूत संवैधानिक संकल्पना का भी उल्लंघन करेगा। ये दोनों सिद्धांत अब संविधान की मूल संरचना के स्तर तक प्रतिष्ठित हो चुके हैं और संवैधानिक व्यवस्था के केंद्रबिंदु हैं।

परम पूज्य केशवानंद भारती श्रीपादगलवरु बनाम केरल राज्य एवं अन्य आदि आदि, [1973] 4 एस. सी. सी. 225 के प्रकरण में इस न्यायालय की बारह-सदस्यीय संविधान पीठ को संविधान की मूल संरचना से संबंधित इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ था। न्यायालय के अनुसार, संविधान की इस मूल संरचना के साथ संसद संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत अपनी संशोधन शक्ति का प्रयोग करते हुए छेड़छाड़ नहीं कर सकती। मुख्य न्यायाधीश सिकरी ने प्रतिवेदन के अनुच्छेद 247 में *लियान्गे प्रकरण,* (1967) 1 ए. सी. 259 में न्यायिक समिति के निर्णय का अनुमोदनपूर्वक उल्लेख किया, ताकि उस निर्णय से सक्षम विधायिका—जैसे कि उस मामले में संबंधित सीलोन की संसद—की संशोधन शक्ति पर निहित सीमाओं का निष्कर्ष निकाला जा सके। इस संबंध में प्रासंगिक टिप्पणियाँ प्रतिवेदन के अनुच्छेद 253 से 255 में, पृष्ठ 357 और 358 पर उपलब्ध हैं, जो इस प्रकार हैं :"

"253. हालाँकि, यह मामला एक और उदाहरण प्रस्तुत करता है जहाँ निहित सीमाओं का अनुमान लगाया गया। न्यायपालिका तथा न्यायाधीशों से संबंधित प्रावधानों का उल्लेख करने के पश्चात न्यायिक समिति ने यह टिप्पणी की :

"ये प्रावधान न्यायपालिका को राजनीतिक, विधायी और कार्यकारी नियंत्रण से मुक्त रखने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं। ये ऐसे संविधान के लिए पूर्णतः उपयुक्त हैं, जो यह अभिप्रेत करता है कि न्यायिक शक्ति केवल न्यायपालिका में ही निहित होगी। यदि संविधान का उद्देश्य यह होता कि न्यायिक शक्ति कार्यपालिका या विधायिका के साथ साझा की जाए, तो ये प्रावधान अनुपयुक्त होते। न्यायिक शक्ति के निहित होने के संबंध में संविधान की मौनता इस तथ्य के अनुरूप है कि यह शक्ति एक शताब्दी से अधिक समय से न्यायपालिका के हाथों में रही है। यह किसी भी ऐसी मंशा के अनुरूप नहीं है कि अब यह शक्ति कार्यपालिका या विधायिका को हस्तांतरित की जाए अथवा उनके साथ साझा की जाए।"

254. न्यायिक समिति का मत था कि "न्यायपालिका में एक पृथक शक्ति विद्यमान है, जिसे वर्तमान संविधान के अंतर्गत कार्यपालिका या विधायिका द्वारा न तो हड़पा जा सकता है और न ही उसका अतिक्रमण किया जा सकता है।"

न्यायिक समिति ने धारा 29(1) के स्पष्ट शब्दों को इस प्रकार सीमित अर्थ प्रदान किया :

"संविधान की धारा 29(1) यह कहती है— 'इस आदेश के प्रावधानों के अधीन, संसद को द्वीप की शांति, व्यवस्था और सुशासन के लिए विधि बनाने की शक्ति होगी।' इन शब्दों की सामान्यतः उनके व्यापकतम अर्थ में व्याख्या की गई है। धारा 29(4) यह उपबंधित करती है कि संसद दो-तिहाई बहुमत तथा अध्यक्ष के प्रमाणपत्र के साथ संविधान में संशोधन कर सकती है। तथापि, उनके लॉर्डशिप्स धारा 29(1) के शब्दों को इस प्रकार नहीं पढ़ सकते कि वे संसद को ऐसा विधान पारित करने का

अधिकार प्रदान करते हों, जो न्यायपालिका की न्यायिक शक्ति का अतिक्रमण करे— उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति के विरुद्ध दंडादेश अधिनियम पारित करना अथवा किसी न्यायाधीश को यह निर्देश देना कि वह विचाराधीन व्यक्ति के विरुद्ध दोषसिद्धि का निर्णय दे— यदि विधि की दृष्टि में ऐसा अतिक्रमण अन्यथा संविधान के प्रतिकूल हो।" *(पृष्ठ 289)*।

255. अंततः न्यायिक समिति ने यह निष्कर्ष निकाला कि न्यायपालिका के कार्यों में हस्तक्षेप हुआ था, और यह न केवल आक्षेपित अधिनियमों का संभावित परिणाम था, बल्कि उनका अभिप्रेत प्रभाव भी था; और यही तथ्य उनकी वैधता के लिए घातक सिद्ध हुआ।

मुख्य न्यायाधीश सिकरी जिन अंतिम निष्कर्षों पर पहुँचे, वे प्रतिवेदन के पृष्ठ 366 पर कंडिका 292 से 294 में इस प्रकार उल्लिखित हैं :

"292. महान्यायवादी ने यह कहा कि संविधान का प्रत्येक प्रावधान आवश्यक है; अन्यथा उसे संविधान में सम्मिलित नहीं किया जाता। यह बात सत्य है। परंतु इससे संविधान के प्रत्येक प्रावधान की स्थिति समान नहीं हो जाती। वास्तविक स्थिति यह है कि संविधान के प्रत्येक प्रावधान में संशोधन किया जा सकता है, बशर्ते कि उसके परिणामस्वरूप संविधान की मूल नींव और संरचना यथावत बनी रहे। संविधान की मूल संरचना में निम्नलिखित विशेषताएँ सम्मिलित मानी जा सकती हैं :

(1) संविधान की सर्वोच्चता;

(2) शासन का गणतांत्रिक और लोकतांत्रिक स्वरूप;

(3) संविधान का धर्मनिरपेक्ष चरित्र;

(4) विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का पृथक्करण;

(5) संविधान का संघीय स्वरूप।

293. उपर्युक्त संरचना जिस मूल आधार पर निर्मित है, वह है—व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता। यह सर्वोपरि महत्व का विषय है। इसे किसी भी प्रकार के संशोधन द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता।

294. उपर्युक्त आधार तथा ये मूल विशेषताएँ केवल संविधान की प्रस्तावना से ही नहीं, बल्कि संविधान की समग्र योजना से भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं, जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ।"

इस संबंध में संविधान पीठ के अन्य माननीय न्यायाधीशों ने भी कोई असंगत मत व्यक्त नहीं किया। अतः यह स्पष्ट है कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के मध्य शक्तियों का पृथक्करण संविधान की मूल विशेषता है।

यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान का मूल तत्व तथा उसकी आधारभूत संरचना है। इस संदर्भ में इस न्यायालय की संविधान पीठ के नवीनतम निर्णय पंजीयक (प्रशासन), उड़ीसा उच्च न्यायालय, कटक आदि बनाम शिशिर कांता सतपथी (मृत) उनके विधिक प्रतिनिधियों द्वारा एवं अन्य आदि, [1999] 7 एस.सी.सी. 725 का उल्लेख उपयोगी होगा, जिसमें न्यायमूर्ति के. वेंकटस्वामी, संविधान पीठ की ओर से बोलते हुए, भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 से 235 के संबंध में प्रारंभिक दो अनुच्छेदों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की थीं :

"एक स्वतंत्र न्यायपालिका गणराज्य के संविधान की मूल विशेषताओं में से एक है। भारतीय संविधान ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अत्यंत सावधानीपूर्वक रक्षा की है। निस्संदेह, न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान की आधारभूत संरचना है, किंतु स्वतंत्रता की यह अवधारणा संविधान की चारदीवारी के भीतर ही सीमित रहनी चाहिए और संविधान से परे नहीं जा सकती।"

उक्त निर्णय में संविधान पीठ ने इस न्यायालय की *ऑल इंडिया जजेस एसोसिएशन एवं अन्य (उपरोक्त)* आदि के मामले में की गई टिप्पणियों पर भी भरोसा किया, जिसमें अनुच्छेद 235

सहपठित अनुच्छेद 309 के अंतर्गत न्यायपालिका की सेवा शर्तों के विनियमन के संबंध में यह कहा गया था :

> "... केवल इस तथ्य से कि अनुच्छेद 309 कार्यपालिका और विधायिका को न्यायपालिका की सेवा शर्तें निर्धारित करने की शक्ति प्रदान करता है, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस विषय में न्यायपालिका की कोई भूमिका न हो। इस संबंध में न्यायपालिका को किसी भी भूमिका से वंचित करना संविधान की भावना के प्रतिकूल होगा, क्योंकि सैद्धांतिक रूप से यह असंभव नहीं है कि कार्यपालिका या विधायिका उक्त शक्ति का उपयोग कर न्यायपालिका पर दबाव डाले अथवा उसे नियंत्रित करने का प्रयास करे। ऐसा परिणाम संविधान के एक मूलभूत आदेश—अर्थात् न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने—के प्रतिकूल होगा।"

उपरोक्त स्थापित विधिक स्थिति के आलोक में, यह स्पष्ट है कि पहले से नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की अन्य सेवा शर्तों के विनियमन हेतु अनुच्छेद 309 के अंतर्गत प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते समय भी संबंधित प्राधिकारियों को संबंधित राज्य के उच्च न्यायालय की राय को ध्यान में रखना होगा, और उसे यूँ ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने की इस संवैधानिक मंशा को प्रभावी बनाने तथा इस मूलभूत आवश्यकता को साकार करने के लिए, वर्तमान वाद से संबंधित जिला न्यायपालिका में भर्ती एवं नियुक्ति की प्रक्रिया को संविधान-निर्माताओं ने अनुच्छेद 233 और 234 के माध्यम से एक पूर्ण संहिता का निर्माण कर बाहरी विधायी हस्तक्षेप से संरक्षित रखा है। अतः इन दोनों अनुच्छेदों के अंतर्गत परिकल्पित प्रक्रिया में उच्च न्यायालय से परामर्श एक अनिवार्य और अपरिहार्य तत्व है। यदि संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य किसी बाहरी स्वतंत्र हस्तक्षेप की अनुमति देना होता, तो उन्हें अनुच्छेद 233 और 234 को भी अन्य अनुच्छेदों की भाँति राज्य की विधायिका अथवा संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के अधीन रखने से कोई बाधा नहीं थी, जैसा कि पूर्व में उल्लेखित अन्य अनुच्छेदों में किया गया है।

स्टेट ऑफ केरल बनाम श्रीमती ए. लक्ष्मीकुट्टी एवं अन्य, [1986] 4 एस. सी. सी. 632 के मामले में इस न्यायालय की द्विसदस्यीय पीठ ने, न्यायमूर्ति सेन द्वारा निर्णय देते हुए तथा इस न्यायालय की संविधान पीठ के निर्णय *चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* [1967] 1 एस. सी. आर. 77 पर भरोसा करते हुए, कंडिका 22 से 25 (पृष्ठ 647-648) में निम्नलिखित महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की थीं, जो इस प्रकार हैं :"

> 22. इस विषय का मूल सार यह है कि संविधान के अनुच्छेद 233(1) के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राज्य सरकार और उच्च न्यायालय के बीच होने वाला 'परामर्श' वास्तविक, पूर्ण तथा प्रभावी होना चाहिए। परामर्श को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि उच्च न्यायालय और राज्य सरकार के बीच विचारों का वास्तविक आदान-प्रदान हो, ताकि यदि राज्य सरकार उच्च न्यायालय की सलाह से भिन्न कोई कदम उठाना चाहे, तो वह उसके कारणों को उच्च न्यायालय के समक्ष स्पष्ट करे। यदि राज्य सरकार केवल औपचारिकता निभाने के लिए परामर्श के सिद्धांत का दिखावटी पालन करे और उच्च न्यायालय की सलाह से हटकर न्यायिक नियुक्तियाँ करते समय उन कठिनाइयों को पुनः उच्च न्यायालय के समक्ष न रखे, जो सरकार को उसकी सलाह स्वीकार करने से रोकती हैं, तो ऐसा परामर्श प्रभावी नहीं माना जाएगा। ऐसी स्थिति में, बार से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा अथवा न्यायिक सेवा से पदोन्नति द्वारा अनुच्छेद 233(1) के अंतर्गत किसी व्यक्ति की जिला न्यायाधीश के रूप में की गई नियुक्ति अवैध होगी। जब तक राज्य सरकार उन कठिनाइयों को, जिनके कारण वह उच्च न्यायालय की सलाह स्वीकार नहीं कर पा रही है, पुनः विचारार्थ उच्च न्यायालय को संप्रेषित नहीं करती, तब तक परामर्श को प्रभावी नहीं माना जा सकता।
>
> 23. निस्संदेह, संविधान के अनुच्छेद 233(1) के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति का जो अधिकार राज्यपाल—अर्थात् राज्य सरकार—को उच्च न्यायालय से

परामर्श करके प्रदान किया गया है, वह एक कार्यपालिका संबंधी शक्ति है। इस न्यायालय के अनेक निर्णयों की सतत श्रृंखला—जो *चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य से प्रारंभ होकर एम.एम. गुप्ता बनाम जम्मू एवं कश्मीर राज्य* तक जाती है—से यह विधिक स्थिति स्थापित हो चुकी है कि राज्य सरकार की यह शक्ति न तो निरपेक्ष है और न ही असीमित, बल्कि यह कुछ शर्तों से आबद्ध है। अनुच्छेद 233(1) के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में राज्यपाल की शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय से परामर्श की अनिवार्य शर्त से नियंत्रित है। अर्थात् यह शक्ति केवल उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही प्रयोग की जा सकती है।

24. किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापन और पदोन्नति अनुच्छेद 233(1) के अंतर्गत राज्यपाल द्वारा उस राज्य के अधिकार क्षेत्र वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जाएगी। इसके उप-अनुच्छेद (2) में यह प्रावधान है कि जो व्यक्ति पहले से संघ या राज्य की सेवा में नहीं है, वह तभी जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति का पात्र होगा, यदि वह कम-से-कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो तथा उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसित किया गया हो। अतः यह स्पष्ट है कि बार के सदस्यों में से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की पात्रता पूर्णतः उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर निर्भर करती है। राज्य सरकार को यह अधिकार नहीं है कि वह उच्च न्यायालय द्वारा प्रेषित नामों के पैनल के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को जिला न्यायाधीश नियुक्त करे। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, *चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* से प्रारंभ होने वाले निर्णयों ने विधि के सिद्धांत के रूप में यह स्थापित कर दिया है कि अनुच्छेद 233(1) के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राज्यपाल और उच्च न्यायालय के बीच होने वाला परामर्श केवल एक औपचारिकता नहीं, बल्कि वास्तविक, पूर्ण और प्रभावी होना चाहिए।

25. *चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में* मुख्य न्यायाधीश *सुब्बा राव,* सर्वसम्मत न्यायालय की ओर से बोलते हुए, यह कहा था : "राज्यपाल की नियुक्ति संबंधी शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय से परामर्श की शर्त से आबद्ध है; अर्थात् वह केवल उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही किसी व्यक्ति को जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर सकता है। परामर्श का उद्देश्य स्पष्ट है। किसी व्यक्ति—चाहे वह 'न्यायिक सेवा' से संबंधित हो या बार का सदस्य—की जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता के विषय में उच्च न्यायालय से अधिक जानकारी राज्यपाल को नहीं हो सकती। अतः राज्यपाल पर यह कर्तव्य अधिरोपित किया गया है कि वह ऐसी संस्था से परामर्श करके नियुक्ति करे, जो उसे इस विषय में उपयुक्त सलाह देने के लिए सक्षम प्राधिकारी है... ये प्रावधान यह दर्शाते हैं कि परामर्श का कर्तव्य शक्ति के प्रयोग के साथ इस प्रकार अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है कि उस शक्ति का प्रयोग केवल उन्हीं व्यक्तियों या प्राधिकारियों से परामर्श करके किया जा सकता है, जिन्हें वहाँ निर्दिष्ट किया गया है।"

इसी आशय के निर्णय *चंद्रमौलेश्वर प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय,* [1969] 3 एस.सी.सी. 56, *पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय बनाम हरियाणा राज्य,* [1975] 1 एस.सी.सी. 843, *ए. पांडुरंगा राव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* [1975] 4 एस.सी.सी. 709, तथा *एम.एम. गुप्ता बनाम जम्मू एवं कश्मीर राज्य,* [1982] 3 एस.सी.सी. 412 में भी दिए गए हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि उच्च न्यायालय की अनुशंसा के बिना राज्यपाल द्वारा जिला न्यायाधीश के पद पर कोई नियुक्ति नहीं की जा सकती। इसी प्रकार, अधीनस्थ न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर भी राज्यपाल नियुक्तियाँ केवल उन्हीं नियमों के अनुसार कर सकता है, जो उसने उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श के पश्चात बनाए हों। ऐसा कोई भी वैधानिक प्रावधान, जो उच्च न्यायालय से परामर्श को दरकिनार करते हुए कोई बाध्यकारी

विधिक आदेश लागू करे—जैसा कि बिहार विधानमंडल द्वारा धारा 4 के अधिनियमन के माध्यम से करने का प्रयास किया गया—उसे संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा परिकल्पित जिला न्यायपालिका एवं अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती और नियुक्ति संबंधी पूर्ण संहिता से प्रत्यक्ष टकराव वाला माना जाएगा। अतः आक्षेपित धारा 4 उस क्षेत्र में प्रभावी नहीं हो सकती, जिसे जिला न्यायपालिका और अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती के विषय में राज्य विधानमंडल के लिए स्पष्ट रूप से निषिद्ध और पृथक रूप से आरक्षित किया गया है। यह क्षेत्र अनुच्छेद 309 के सामान्य प्रभाव क्षेत्र से पृथक कर दिया गया है।

निस्संदेह, इस न्यायालय के अनेक निर्णयों द्वारा यह स्थापित किया गया है कि न्यायालयों की संरचना, सेवा संबंधी वे नियम जो अनुच्छेद 233 और 235 द्वारा उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में स्पष्ट रूप से नहीं रखे गए हैं, न्यायिक अधिकारियों की सेवानिवृत्ति आयु, अन्य सेवानिवृत्ति लाभ, वेतनमान निर्धारण, तथा संवर्गों का विविधीकरण जैसे विषय सामान्य भर्ती एवं सेवा शर्तों का भाग हो सकते हैं। ऐसे विषय अनुच्छेद 309 सहपठित अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के अंतर्गत राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति के अधीन आ सकते हैं, अथवा सक्षम विधायिका द्वारा सातवीं अनुसूची की सूची-II की प्रविष्टि 41 अथवा सूची-III की प्रविष्टि 11ए के अंतर्गत कानून बनाकर विनियमित किए जा सकते हैं। किन्तु इस अनुमत क्षेत्र को छोड़कर, राज्य विधानमंडल उस निषिद्ध क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता जो अनुच्छेद 233 और 234 के बल पर उच्च न्यायालय से परामर्श हेतु स्पष्ट रूप से आरक्षित है, विशेषतः न्यायिक सेवा में भर्ती के प्रारंभिक प्रवेश बिंदु—चाहे वह अधीनस्थ न्यायपालिका का निम्नतम स्तर हो अथवा जिला न्यायपालिका का उच्चतम स्तर। इस न्यायालय की त्रिसदस्यीय पीठ ने *ए. पांडुरंगा राव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य एवं अन्य,* ए. आई. आर. (1975) एस. सी. 1922 के मामले में, न्यायमूर्ति उंटवालिया द्वारा निर्णय देते हुए, इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या उच्च न्यायालय की अनुशंसा के बिना राज्यपाल किसी व्यक्ति को जिला न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। इस न्यायालय की संविधान पीठ के

निर्णय *चंद्र मोहन* के मामले (उपर्युक्त) पर भरोसा करते हुए, प्रतिवेदन के कंडिका 7 में निम्नलिखित टिप्पणियाँ की गईं :"

> "भर्ती के दो स्रोत हैं, अर्थात्—(i) संघ या राज्य की सेवा, तथा (ii) बार के सदस्य। प्रथम स्रोत से आने वाले न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जाती है, और द्वितीय स्रोत से आने वालों की नियुक्ति उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर की जाती है।"

इसके पश्चात कंडिका 8 में निम्नलिखित महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की गईं :

> "बार से प्रत्यक्ष भर्ती के लिए कोई अभ्यर्थी उच्च न्यायालय की अनुशंसा के बिना नियुक्ति के लिए पात्र नहीं बनता। वह केवल अनुच्छेद 233 के खंड (2) के अंतर्गत ऐसी अनुशंसा होने पर ही पात्रता प्राप्त करता है। अपीलाधीन निर्णय में उच्च न्यायालय को "अनुशंसित" शब्द के अर्थ को समझने में कुछ कठिनाई हुई थी। किंतु संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में दिया गया इसका शाब्दिक अर्थ अत्यंत सरल और उपयुक्त है। इसका अर्थ है—"नियुक्ति के लिए उपयुक्त बताना अथवा सुझाना।" अधिवक्ताओं में से नियुक्ति के मामले में सरकार को किसी अभ्यर्थी को नियुक्ति हेतु चुनने का अधिकार तब तक नहीं है, जब तक उसका नाम उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसित न किया गया हो।"

अतः यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति अथवा जिला न्यायपालिका के अधीन निम्न स्तर की अधीनस्थ न्यायपालिका में दीवानी न्यायाधीशों की नियुक्ति के नियंत्रण में राज्य विधानमंडल की कोई भूमिका नहीं है। यह दायित्व केवल राज्यपाल को सौंपा गया है, जिसे वह अनुच्छेद 234 के अनुसार अधीनस्थ न्यायपालिका के निम्न स्तर पर भर्ती हेतु उच्च न्यायालय से परामर्श कर उपयुक्त नियम बनाकर, तथा अनुच्छेद 233(2) के अनुसार बार से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए केवल उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर कार्य करते हुए निभा सकता है। इस प्रक्रिया में

कोई तीसरी पद्धति या तीसरा प्राधिकारी—चाहे वह विधायी हो या कार्यपालिका संबंधी—संविधान के इन दोनों अनुच्छेदों द्वारा परिकल्पित भर्ती की पूर्ण योजना से स्वतंत्र रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकता और न ही उसमें अपनी भूमिका निभा सकता है। अतः अपीलकर्ता-राज्य के विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता का यह तर्क स्वीकार करना कठिन है कि संविधान के उपर्युक्त दोनों अनुच्छेदों की योजना के बावजूद राज्य विधानमंडल की सर्वोपरि विधायी शक्ति अप्रभावित बनी रहती है।

अपीलकर्ता-राज्य की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री द्विवेदी का यह तर्क सही था कि अनुच्छेद 16(4) एक सक्षमकारी प्रावधान है, जो राज्य को राज्य सेवाओं में आरक्षण की योजना बनाने की अनुमति देता है। यह भी सत्य हो सकता है कि इस न्यायालय द्वारा *बी.एस. यादव आदि* के मामले में प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार न्यायिक सेवा को भी ऐसी सेवाओं का भाग माना जा सकता है। किन्तु, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत इस सक्षमकारी शक्ति का प्रयोग करते हुए उपयुक्त आरक्षण योजना बनाने के प्रश्न पर यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि उच्च न्यायालय, एक उच्च संवैधानिक प्राधिकारी होने के नाते, अपने सामाजिक दायित्वों तथा अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों जैसी वंचित श्रेणियों के उत्थान हेतु आरक्षण व्यवस्था की संवैधानिक आवश्यकता से पूर्णतः परिचित होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु राज्यपाल, उच्च न्यायालय से परामर्श करके, अधीनस्थ न्यायपालिका के निम्न स्तर पर अथवा जिला न्यायपालिका के उच्चतम स्तर पर नियुक्तियों के लिए आरक्षण संबंधी उपयुक्त नियम बना सकता है। किन्तु जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक राज्य विधानमंडल संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 के स्पष्ट आदेश की अवहेलना करते हुए, उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना, सभी राज्य सेवाओं—जिसमें न्यायपालिका भी सम्मिलित हो—पर समान रूप से लागू होने वाली कठोर वैधानिक आरक्षण योजना लागू नहीं कर सकता। यह सहज कल्पना की जा सकती है कि यदि उच्च न्यायालय से विधिवत् और

प्रभावी रूप से परामर्श किया जाए, तो वह राज्यपाल के आरक्षण संबंधी प्रस्ताव का समर्थन भी कर सकता है तथा न्यायिक सेवा में आरक्षण का उपयुक्त प्रतिशत निर्धारित करने के लिए आवश्यक सुझाव भी दे सकता है। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि अनुच्छेद 335 यह अपेक्षा करता है कि सेवाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के दावों पर विचार करते समय प्रशासनिक दक्षता बनाए रखने की आवश्यकता के साथ संतुलन रखा जाए। यह स्पष्ट है कि न्यायिक प्रशासन की दक्षता बनाए रखने का प्रश्न पूर्णतः उच्च न्यायालय के नियंत्रण और अधिकार क्षेत्र में आता है, जैसा कि अनुच्छेद 235 में निर्धारित है। राज्य विधानमंडल के पास स्वाभाविक रूप से वह विशेषज्ञता और न्यायिक प्रशासन का अनुभव नहीं हो सकता, जो उच्च न्यायालय के पास होता है। फलतः, उच्च न्यायालय को दरकिनार करते हुए राज्य विधानमंडल अपनी कथित सर्वोपरि विधायी शक्ति का प्रयोग कर कोई सामान्य नियम नहीं बना सकता, जिसके अंतर्गत न्यायिक सेवाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए निश्चित आरक्षण प्रतिशत निर्धारित कर दिया जाए और साथ ही धारा 4 की उपधाराओं (3) से (6) में वर्णित विस्तृत प्रक्रिया भी आरोपित कर दी जाए। यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि यदि राज्य विधानमंडल कानून बनाते समय उच्च न्यायालय से परामर्श न करे—और वस्तुतः ऐसा परामर्श संभव भी नहीं है—तथा न्यायिक सेवा में *एकमुश्त* 50 प्रतिशत आरक्षण लागू कर दे, जैसा कि अधिनियम की धारा 4 द्वारा किया गया है, तो इससे उच्च न्यायालय के समक्ष एक पूर्वनिर्धारित स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। ऐसी स्थिति में उच्च न्यायालय अपने संवैधानिक रूप से संरक्षित परामर्शाधिकार का उपयोग करते हुए यह सुझाव देने से वंचित हो जाएगा कि न्यायिक सेवा में प्रशासनिक दक्षता बनाए रखने के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण आवश्यक नहीं है, अथवा इससे कम प्रतिशत पर्याप्त होगा, या संभवतः आरक्षण की आवश्यकता ही न हो।

अब हम अपीलकर्ता-राज्य की ओर से विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत एक तर्क का उल्लेख करते हैं। उनका कहना था कि जिला न्यायपालिका के संवर्ग में उपलब्ध रिक्तियों

पर नियुक्ति के संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता, क्योंकि वे केवल उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर ही भरी जा सकती हैं। इसी प्रकार, अधीनस्थ न्यायपालिका की सभी रिक्तियों को भी अनुच्छेद 234 के अनुसार ही भरा जाना है, अर्थात् राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श कर बनाए गए नियमों के अनुसार। किन्तु जहाँ तक आरक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों हेतु रिक्तियों के आरक्षण का प्रश्न है, उनका तर्क था कि यह एक ऐसा कार्य है जिसे राज्य प्राधिकारी अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत प्रदत्त सक्षमकारी शक्ति के प्रयोग में संपन्न करते हैं। उनके अनुसार, यह प्रक्रिया जिला न्यायपालिका अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका के संवर्ग में उपलब्ध रिक्तियों पर वास्तविक भर्ती या नियुक्ति के प्रश्न से पूर्व की अवस्था है। अतः उनका कहना था कि प्रशासनिक आदेश द्वारा अथवा विधायन के माध्यम से किया गया ऐसा आरक्षण संबंधी प्रावधान, संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 के अंतर्गत निर्धारित जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती और नियुक्ति प्रक्रिया से किसी प्रकार का टकराव उत्पन्न नहीं करता।

यह तर्क, जैसा प्रस्तुत किया गया, प्रथम दृष्टया आकर्षक प्रतीत होता है, परंतु गहराई से परीक्षण करने पर टिक नहीं पाता, जैसा कि हम अभी स्पष्ट करेंगे। इसमें कोई विवाद नहीं है और न ही हो सकता है कि राज्य की न्यायिक सेवा में सम्मिलित संवर्गों का गठन तथा उनमें पदों का सृजन, राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 309 के अंतर्गत अपने नियम-निर्माण अधिकार का प्रयोग करके अथवा राज्य की सक्षम विधायिका द्वारा उसी अनुच्छेद के अधीन विधि बनाकर किया जा सकता है। किंतु एक बार जब जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के संवर्ग इस प्रकार गठित हो जाते हैं और उपयुक्त बजटीय प्रावधानों के आधार पर पद सृजित कर दिए जाते हैं तथा उन्हें भरने हेतु उपलब्ध करा दिया जाता है, तब पद-सृजन की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात जब इन सृजित पदों में, चाहे वे जिला न्यायालय स्तर पर हों या अधीनस्थ न्यायालय स्तर पर, सेवानिवृत्ति अथवा किसी अन्य कारण से रिक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, तब उन उपलब्ध रिक्तियों को भरने का प्रश्न उत्पन्न होता

है। ऐसी स्वीकृत रिक्तियों को केवल भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 में निर्धारित प्रक्रिया का पालन करके ही भरा जा सकता है; उन्हें किसी अन्य प्रक्रिया के अधीन नहीं किया जा सकता। उस अवस्था में, उच्च न्यायालय की सहमति और परामर्श के बिना, मात्र किसी विधायी प्रावधान के बल पर यह निर्देश देना कि जिला न्यायाधीशों के संवर्ग अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीशों के संवर्ग में उपलब्ध रिक्तियों का 50 प्रतिशत केवल आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों से भरा जाए, प्रत्यक्षतः उच्च न्यायालय की उस शक्ति का अतिक्रमण होगा जिसके अंतर्गत अनुच्छेद 233 के अनुसार वही जिला संवर्ग की समस्त रिक्तियों की पूर्ति हेतु अनुशंसा कर सकता है। इसी प्रकार यह अनुच्छेद 234 के अंतर्गत राज्यपाल को प्रभावी परामर्श देने की उसकी शक्ति का भी अतिक्रमण होगा, जब राज्यपाल अधीनस्थ न्यायपालिका की रिक्तियों को भरने हेतु नियम बनाता है। यह समझना कठिन है कि इन संवर्गों में पहले से स्वीकृत पदों की रिक्तियों को भरना किस प्रकार संविधान द्वारा अनुच्छेद 233 और 234 के माध्यम से निर्धारित भर्ती-प्रक्रिया से पूर्व की कोई स्वतंत्र अवस्था माना जा सकता है। किसी भी स्थिति में, अधिनियम की आक्षेपित धारा 4 की स्पष्ट शब्दावली ऐसी किसी पूर्ववर्ती अवस्था की कल्पना नहीं करती। इसके विपरीत, यह उपबंध करती है कि किसी प्रतिष्ठान में सेवाओं और पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा की जाने वाली सभी नियुक्तियाँ उसमें निर्धारित रीति से विनियमित होंगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ऐसे उपलब्ध पदों पर होने वाली नियुक्तियों में से 50 प्रतिशत नियुक्तियाँ आरक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों से, उनके लिए निर्धारित प्रतिशत के अनुसार, की जाएँगी। अर्थात् सेवाओं में उपलब्ध वर्तमान रिक्तियों का 50 प्रतिशत केवल आरक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों से भरा जाना अनिवार्य होगा। इसलिए धारा 4 का यह आदेश, जिला संवर्ग तथा अधीनस्थ संवर्ग की न्यायिक सेवाओं में प्रत्यक्ष भर्ती के लिए संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा स्थापित पूर्ण संवैधानिक व्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप से टकराता है।

हम इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए कि राज्य में किसी निश्चित समय पर जिला न्यायाधीशों के 10 रिक्त पद उपलब्ध हैं, जिन्हें संबंधित नियमों के अधीन अनुमेय प्रत्यक्ष भर्ती के अनुपात को ध्यान में रखते हुए प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरा जाना है। जब इन 10 रिक्तियों को उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर, बार के सदस्यों में से, अनुच्छेद 233 के उपबंध (2) के अंतर्गत निर्धारित न्यूनतम पात्रता के अधीन प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरा जाना आवश्यक हो, तब उच्च न्यायालय को स्वाभाविक रूप से पात्र अभ्यर्थियों के चयन की प्रक्रिया स्वयं करनी होगी। ऐसी स्थिति में राज्यपाल को केवल उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसित पैनल के आधार पर परिणामी नियुक्ति आदेश पारित करना होगा। यदि ऐसी कोई अनुशंसा प्राप्त नहीं होती, तो अनुच्छेद 233 के उपबंध (2) के स्पष्ट आदेशानुसार राज्यपाल को ऐसी नियुक्ति करने का कोई अधिकार या शक्ति प्राप्त नहीं होगी। जब उच्च न्यायालय ऐसी प्रक्रिया अपनाता है और संबंधित प्रक्रियात्मक नियमों के अनुसार लिखित अथवा मौखिक परीक्षा आयोजित कर बार से पात्र एवं उपयुक्त प्रत्यक्ष भर्ती अभ्यर्थियों का पैनल तैयार करता है, तब वह उनके परस्पर योग्यता-क्रम के आधार पर 10 अभ्यर्थियों का पैनल तैयार करेगा तथा उनकी नियुक्ति हेतु अनुशंसा करेगा। यह पैनल आवश्यक आदेश पारित करने के लिए भेजा जा सकता है। यदि ऐसा है, तो सभी 10 रिक्तियों को उच्च न्यायालय द्वारा तैयार पैनल के आधार पर ही भरा जाना चाहिए, और पैनल में अभ्यर्थियों के नाम उसी क्रम में लिए जाने चाहिए जिस क्रम में उच्च न्यायालय ने उनकी योग्यता के अनुसार रैंकिंग निर्धारित की है। अतः उच्च न्यायालय योग्यता एवं उपयुक्तता के आधार पर क्रमबद्ध रूप से प्रथम 10 रिक्तियों के लिए 10 अनुशंसित अभ्यर्थियों का पैनल तैयार करेगा। यही उस अनुच्छेद का संवैधानिक आदेश है। अब यदि यह कल्पना की जाए कि राज्य विधानमंडल, जैसा कि वर्तमान मामले में हुआ है, किसी स्वतंत्र अधिनियम द्वारा उच्च न्यायालय को यह निर्देश दे कि वह केवल प्रथम पाँच रिक्तियों को सामान्य वर्ग से योग्यता-क्रम के आधार पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरे और शेष पाँच रिक्तियाँ केवल आरक्षित वर्ग के

अभ्यर्थियों से भरी जाएँ—और भले ही उन आरक्षित पाँच रिक्तियों को आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों की आपसी योग्यता-क्रम के अनुसार भरा जा सके—तब भी धारा 4 का यह प्रभाव निश्चित रूप से उच्च न्यायालय की उस शक्ति एवं अधिकार का अतिक्रमण या प्रतिबंध करेगा, जिसके अंतर्गत वह सभी 10 रिक्तियों के लिए अपने द्वारा उपयुक्त एवं मेधावी पाए गए अभ्यर्थियों की नियुक्ति की अनुशंसा कर सकता है। परिणाम यह होगा कि पहली पाँच रिक्तियाँ योग्यता के आधार पर पैनल में अनुशंसित प्रथम पाँच अभ्यर्थियों को मिल सकती हैं; किन्तु जहाँ तक रिक्ति संख्या 6 से 10 का संबंध है, भले ही उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसित छठा प्रत्यक्ष भर्ती अभ्यर्थी पैनल में क्रम संख्या 7 पर सूचीबद्ध अभ्यर्थी की तुलना में स्पष्टतः अधिक मेधावी हो, फिर भी उसे दरकिनार करना पड़ सकता है, यदि पैनल में क्रम संख्या 6 पर स्थित अभ्यर्थी सामान्य वर्ग से संबंधित हो, जबकि क्रम संख्या 7 पर स्थित अभ्यर्थी अनुसूचित जाति अर्थात आरक्षित वर्ग से संबंधित हो। इसका वास्तविक परिणाम यह होगा कि यद्यपि उच्च न्यायालय अपने संवैधानिक दायित्व और अधिकार का प्रयोग करते हुए जिला न्यायाधीश संवर्ग की छठी रिक्ति को पैनल में सूचीबद्ध अभ्यर्थी संख्या 6 द्वारा भरे जाने की अनुशंसा करता है, तथापि अधिनियम की आक्षेपित धारा 4 के प्रभाव से राज्यपाल उस छठी रिक्ति को अभ्यर्थी संख्या 7 को नियुक्त कर भर सकता है, जो अभ्यर्थी संख्या 6 की तुलना में कम मेधावी है और जिसे उच्च न्यायालय ने रिक्ति संख्या 6 पर नियुक्त किए जाने हेतु अनुशंसित भी नहीं किया है। इस प्रकार, अभ्यर्थी संख्या 6 को अभ्यर्थी संख्या 7 द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाएगा, जो संभवतः अनुसूचित जाति वर्ग से संबंधित हो और जो केवल अनुसूचित जाति अभ्यर्थियों के परस्पर योग्यता-क्रम में उच्च स्थान पर हो। मान लीजिए कि क्रम संख्या 9 पर एक अन्य अनुसूचित जाति अभ्यर्थी भी है; तब अभ्यर्थी संख्या 7 और 9, जो दोनों अनुसूचित जाति वर्ग से संबंधित हैं, के बीच इस छठी रिक्ति को धारा 4 के प्रभाव से अभ्यर्थी संख्या 7 द्वारा भरा जा सकता है। श्री द्विवेदी का यह तर्क कि दो अनुसूचित जाति अभ्यर्थियों अथवा एक ही आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों के बीच उच्च

न्यायालय के लिए अधिक मेधावी आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थी की नियुक्ति की अनुशंसा करना खुला रहेगा, और यह प्रक्रिया अनुच्छेद 233 के उपबंध (2) की आवश्यकता की पूर्ति कर देगी—वास्तव में उस अनुच्छेद के प्रति केवल औपचारिक सम्मान प्रकट करना मात्र है। इसका कारण स्पष्ट है। उच्च न्यायालय की यह शक्ति, और वस्तुतः उसका संवैधानिक दायित्व, कि वह सभी रिक्त पदों को भरने के लिए अपने द्वारा उपयुक्त एवं मेधावी पाए गए अभ्यर्थियों की अनुशंसा करे, स्पष्टतः संकुचित और सीमित हो जाएगी। उच्च न्यायालय, यद्यपि रिक्ति संख्या 6 को भरने के लिए अभ्यर्थी संख्या 7 को उपयुक्त नहीं मानता और उसकी अनुशंसा नहीं करता, फिर भी सामान्य वर्ग से संबंधित अभ्यर्थी संख्या 6 की नियुक्ति की अनुमति न दिए जाने के कारण विवश रहेगा, और उसे अपनी ही निर्णय-प्रक्रिया के विरुद्ध जाकर अनुसूचित जाति वर्ग से संबंधित अभ्यर्थी संख्या 7 की रिक्ति संख्या 6 पर नियुक्ति को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा। यह पूरी प्रक्रिया राज्य विधानमंडल द्वारा आक्षेपित धारा 4 अधिनियमित कर उच्च न्यायालय से इस संबंध में परामर्श किए बिना उस पर थोप दी जाएगी। ऐसी नियुक्ति स्पष्टतः शून्य होगी तथा अनुच्छेद 233(2) का उल्लंघन करने वाली होगी। उच्च न्यायालय को इस प्रकार दरकिनार करना स्पष्टतः न्यायपालिका की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप का कार्य होगा, जो संवैधानिक व्यवस्था की पहचान तथा आधारशिला है। अतः यह घोषित किया जाना चाहिए कि धारा 4 भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा आच्छादित निषिद्ध क्षेत्र में प्रभावी नहीं हो सकती। यह स्पष्टतः एक प्रकार का आरक्षण है, जिसे धारा 4 द्वारा उच्च न्यायालय पर आरोपित किया गया है। इसे भर्ती और नियुक्ति की प्रक्रिया से पूर्ववर्ती किसी चरण से संबंधित नहीं माना जा सकता। वास्तव में, जैसा कि ऊपर देखा गया है, धारा 4 स्वयं उपलब्ध पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती के लिए आरक्षण का प्रावधान करती है। इसलिए भर्ती के क्षेत्र में ही धारा 4 अपना स्वतंत्र प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करती है। अनुच्छेद 233 तथा अनुच्छेद 234 दोनों ही जिला न्यायपालिका में भर्ती एवं नियुक्ति के इसी प्रश्न से संबंधित हैं। यही वह क्षेत्र है, जो पूर्णतः अनुच्छेद 233 और 234 के

संचालन हेतु सुरक्षित है, और यदि धारा 4 को न्यायिक नियुक्तियों पर लागू माना जाए, तो उसकी स्पष्ट भाषा द्वारा इसी क्षेत्र का अतिक्रमण किया जाता है।

जैसा कि पूर्व में देखा गया है, न्यायिक अधिकारियों के प्रारंभिक स्तर अर्थात् मुंसिफों और दण्डाधिकारियों की प्रत्यक्ष भर्ती के संबंध में उच्च न्यायालय से परामर्श एक *अनिवार्य शर्त* है, और उनकी भर्ती अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों, अर्थात् 1955 के नियमों, द्वारा शासित होती है। इसी प्रकार, जिला स्तर की न्यायपालिका में भर्ती संविधान के अनुच्छेद 233 को अनुच्छेद 309 के साथ पठित करते हुए बनाए गए 1951 के नियमों द्वारा विनियमित होती है। तथापि, जिला न्यायाधीशों की प्रत्यक्ष भर्ती केवल उच्च न्यायालय द्वारा उपयुक्त अभ्यर्थियों की यथोचित अनुशंसा के आधार पर ही की जानी है। वास्तव में, इनके नियम 3 में यह प्रावधान है कि "सेवा की संख्या तथा पदों की संख्या एवं प्रकृति इन नियमों की अनुसूची में विनिर्दिष्ट अनुसार होगी।" और जब हम 1951 के नियमों की अनुसूची पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें जिला स्तर की उच्च न्यायपालिका के पाँच संवर्ग सूचीबद्ध मिलते हैं, जिनमें कुल स्वीकृत पदों की संख्या 26 है। स्पष्टतः इस नियम का सीधा संबंध अनुच्छेद 309 को अनुच्छेद 233 के साथ पढ़े जाने पर स्थापित होता है। किन्तु इसके आगे, जब पहले से स्वीकृत पदों पर उच्च जिला न्यायपालिका के संवर्गों में रिक्तियों को भरने का प्रश्न उत्पन्न होता है, तब यह क्षेत्र पूर्णतः अनुच्छेद 233 के उपबंध (1) और (2) द्वारा आच्छादित हो जाता है, और उपलब्ध रिक्तियों पर ऐसी भर्ती करने की शक्ति किसी अन्य संवैधानिक प्राधिकारी को प्राप्त नहीं होती। यह कल्पना करना संभव नहीं है कि जिला न्यायपालिका में अनुच्छेद 233 के उपबंध (2) के अनुसार प्रत्यक्ष भर्ती का प्रावधान करते समय, जबकि उस प्रावधान के अंतर्गत निर्धारित न्यूनतम पात्रता केवल यह है कि अभ्यर्थी कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता अथवा प्लीडर के रूप में अभ्यासरत रहा हो, किसी विशेष पद के लिए आरक्षित वर्ग से संबंधित होने की कोई अतिरिक्त पात्रता भी अपेक्षित मानी गई हो। फलतः, अपीलकर्ता-राज्य की ओर से विद्वान अधिवक्ता श्री द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत इस तर्क से सहमति

व्यक्त करना संभव नहीं है कि जिला न्यायाधीशों के संवर्ग में भर्ती के प्रश्न पर उच्च न्यायालय को यह निर्देश देना कि वह उपलब्ध रिक्तियों में से केवल 50% रिक्तियों के लिए सामान्य वर्ग के पात्र अभ्यर्थियों की अनुशंसा करे तथा शेष 50% रिक्तियों को आरक्षित मानते हुए उनके लिए पृथक अनुशंसा करे, भर्ती अथवा नियुक्ति की प्रक्रिया के पूर्ववर्ती चरण का विषय है। वास्तव में, यह उपलब्ध रिक्तियों पर भर्ती एवं नियुक्ति की प्रक्रिया का ही अभिन्न अंग है, जो पहले से स्वीकृत जिला न्यायपालिका के संवर्गीय पदों से संबंधित है।

इस चरण पर हम इस न्यायालय की संविधान पीठ के निर्णय बी.एस. यादव प्रकरण (उपर्युक्त) का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें न्यायमूर्ति चंद्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश को अनुच्छेद 235 को अनुच्छेद 309 के परंतुक के साथ पढ़ते हुए उसकी व्याख्या करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस मामले में विचारार्थ यह प्रश्न उठा था कि क्या राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 309 के परंतुक के अंतर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए बनाए गए, उच्च न्यायिक सेवा के विद्यमान सदस्यों की वरिष्ठता संबंधी नियम, अधीनस्थ न्यायपालिका में पहले से भर्ती एवं नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की वरिष्ठता को विनियमित करने हेतु विधिसम्मत रूप से लागू हो सकते हैं। उक्त नियम, जिसका सीधा संबंध पहले से नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों से था, के प्रवर्तन को निरस्त करने के उद्देश्य से यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि अनुच्छेद 235 के अंतर्गत यह विषय-वस्तु भी अधीनस्थ न्यायपालिका पर उच्च न्यायालय के नियंत्रण का अभिन्न अंग है। इस तर्क को अस्वीकार करते हुए संविधान पीठ ने, मुख्य न्यायाधीश चंद्रचूड़ के माध्यम से निर्णय देते हुए, अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग पर भरोसा किया और निम्नलिखित अवलोकन किया :

> "अनुच्छेद 235 द्वारा उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण की शक्ति स्पष्टतः उस विधि के अधीन है, जिसे राज्य विधानमंडल राज्य के न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु पारित कर सकता है। संविधान-निर्माताओं ने न्यायिक अधिकारियों की भर्ती एवं सेवा-शर्तों को विनियमित करने के लिए राज्य विधानमंडल

की विधि-निर्माण शक्ति को न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं माना। ऐसी विधि बनाने की मात्र शक्ति, राज्य न्यायपालिका पर उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण का उल्लंघन नहीं करती।"

उपर्युक्त टिप्पणियों पर प्रबल निर्भरता रखते हुए अपीलकर्ता-राज्य की ओर से विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि इस न्यायालय की संविधान पीठ ने अधिकारपूर्वक यह निर्णय दिया है कि संविधान-निर्माताओं ने न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु राज्य विधानमंडल की विधि-निर्माण शक्ति को न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं माना। अब यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि ये टिप्पणियाँ अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के आलोक में की गई थीं, जो स्पष्टतः पहले से भर्ती एवं नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों को विनियमित करने वाले विधानों को संरक्षण प्रदान करता है, जबकि ऐसे अधिकारी अनुच्छेद 235 के अधीन उच्च न्यायालय के नियंत्रण में कार्यरत होते हैं। जब यही अनुच्छेद पहले से नियुक्त ऐसे न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों के विनियमन के लिए अनुच्छेद 309 के अधीन विधि-निर्माताओं अथवा नियम-निर्माताओं को सीमित क्षेत्र प्रदान करता है—चाहे वह अनुच्छेद 309 के परंतुक के अंतर्गत राज्यपाल द्वारा नियम बनाने की शक्ति के प्रयोग से हो अथवा उक्त अनुच्छेद के अधीन उपयुक्त विधान निर्माण द्वारा—तब यह नहीं कहा जा सकता कि इन टिप्पणियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह सिद्धांत स्थापित किया है कि न्यायिक अधिकारियों की भर्ती के समय, चाहे वह प्रारंभिक स्तर पर अनुच्छेद 234 के अधीन हो अथवा जिला स्तर पर अनुच्छेद 233 के अधीन, विधानमंडल कोई ऐसा कानून बना सकता है अथवा राज्यपाल अपनी स्वतंत्र नियम-निर्माण शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसा प्रावधान कर सकता है। न्यायपालिका की जिला संरचना के पिरामिड में प्रवेश स्तर—चाहे वह प्रारंभिक स्तर अर्थात् स्तर संख्या 1 हो अथवा शीर्ष जिला स्तर अर्थात् स्तर संख्या 3—पर भर्ती एवं नियुक्ति को नियंत्रित करने का यह प्रश्न संविधान पीठ के समक्ष विचारार्थ कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ था। अतः उपर्युक्त टिप्पणियों को

इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय नहीं माना जा सकता। यह सहज ही समझा जा सकता है कि अनुच्छेद 309 की परिधि को अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के संदर्भ में विचार करते समय—जो स्वयं सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु विधि-निर्माण का एक अनुमेय क्षेत्र निर्मित करता है—'भर्ती' शब्द का प्रयोग केवल अनुच्छेद 309 की भाषा के संदर्भ मात्र में किया गया था, उससे अधिक कुछ नहीं। यदि यह माना जाए कि संविधान पीठ के उक्त निर्णय ने परोक्ष रूप से भी यह दृष्टिकोण ग्रहण किया है कि सक्षम प्राधिकारी अर्थात् राज्यपाल, अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन प्रत्यायोजित विधायी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, अथवा राज्य विधानमंडल अनुच्छेद 309 के प्रथम भाग के अधीन अपनी सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करते हुए, उच्च न्यायालय को दरकिनार कर जिला स्तर या अधीनस्थ न्यायपालिका के स्तर पर न्यायिक अधिकारियों की भर्ती को नियंत्रित कर सकते हैं, तो ऐसी परोक्ष व्याख्या को पूर्णत आकस्मिक टिप्पणी तथा अनावश्यक माना जाएगा। फलतः, *बी.एस. यादव प्रकरण* (उपर्युक्त) के निर्णय को उसी मामले के तथ्यों तक सीमित रखा जाना चाहिए, और उसका सीमित अनुपात केवल इतना है कि जिला न्यायपालिका अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका में पहले से नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की वरिष्ठता के निर्धारण हेतु, अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग द्वारा अनुमत सीमा के भीतर, संबंधित प्राधिकारी अनुच्छेद 309 के अधीन उपयुक्त विधि या नियम बना सकते हैं। यही उस निर्णय का एकमात्र अनुपात है और इसका विस्तार इससे आगे नहीं किया जा सकता।

तथापि, उस प्रश्न को एक ओर रखते हुए, यह सहज रूप से समझा जा सकता है कि *बी.एस. यादव* प्रकरण (उपर्युक्त) में संविधान पीठ के निर्णय की उपर्युक्त टिप्पणियाँ सामान्य अर्थ में अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन निहित "भर्ती" की अवधारणा की ओर संकेत करती हैं। इसका कारण यह है कि यह स्थापित विधिक स्थिति है कि उक्त अनुच्छेद के अंतर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए संबंधित प्राधिकारी अधीनस्थ न्यायपालिका में सेवा-संवर्ग का गठन कर सकते हैं तथा इन संवर्गों में स्वीकृत पदों का सृजन भी कर सकते

हैं। पदों के सृजन की यह प्रक्रिया भी "भर्ती" की अवधारणा के अंतर्गत आ सकती है। इसी व्यापक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संविधान पीठ ने उपर्युक्त टिप्पणियों में "भर्ती" शब्द का उल्लेख किया था। किन्तु वे टिप्पणियाँ निश्चित रूप से इससे आगे नहीं जा सकतीं, और न ही उन्हें इस प्रकार माना जा सकता है कि उन्होंने अनुच्छेद 233 और 234 की स्पष्ट संवैधानिक योजना के विपरीत कोई निर्णय दिया है। यही एक अतिरिक्त कारण है कि उपर्युक्त सामान्य टिप्पणियों को अनुच्छेद 309 के सीमित क्षेत्र एवं परिधि तक ही सीमित रखा जाना चाहिए, जैसा कि वहाँ इंगित किया गया है। अतः इन सभी कारणों से *बी.एस. यादव* प्रकरण (उपर्युक्त) का निर्णय अपीलकर्ता-राज्य के विद्वान अधिवक्ता की सहायता के लिए वास्तव में किसी प्रकार उपयोगी नहीं हो सकता।

अब हम संक्षेप में उन मुख्य तर्कों पर विचार कर सकते हैं, जिन्हें अपीलकर्ता-राज्य की ओर से विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ताओं ने अपनी अपीलों के समर्थन में प्रस्तुत किया है। हम पहले अपीलकर्ता-राज्य की ओर से डॉ. धवन द्वारा प्रस्तुत तर्कों पर विचार करेंगे। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अनुच्छेद 309 की जो व्याख्या डॉ. धवन द्वारा प्रस्तुत की गई है, वह इतनी व्यापक नहीं हो सकती कि वह जिला संवर्ग के न्यायिक पदों तथा जिला संवर्ग से नीचे के न्यायिक पदों पर भर्ती की प्रक्रिया को भी अपने भीतर समाहित कर ले। पूर्व में परीक्षण की गई संवैधानिक योजना इस तर्क का स्पष्टतः खंडन करती है। जहाँ तक डॉ. धवन की इस दलील का संबंध है कि अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग, यद्यपि संपूर्ण जिला न्यायपालिका का नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित करता है, फिर भी अनुच्छेद 309 के अधीन उपयुक्त प्रावधानों के निर्माण की अनुमति देता है—यह तर्क भी किसी वास्तविक सहायता का नहीं है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग सेवा की अन्य शर्तों, जिनमें अपील का अधिकार भी सम्मिलित है, से संबंधित है, जिन्हें अनुच्छेद 309 के अधीन कार्यरत प्राधिकारियों द्वारा उपयुक्त विधान बनाकर न्यायिक अधिकारियों को प्रदान किया जा सकता है। किन्तु यह अधिकार केवल अधीनस्थ न्यायपालिका के पिरामिड के द्वितीय स्तर

पर, अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग द्वारा अनुमत सीमित क्षेत्र तक ही सीमित है, इससे अधिक नहीं। डॉ. धवन इस सीमा तक सही थे कि अनुच्छेद 233 से 235 की योजना के अंतर्गत अन्य विधान निर्माण को पूर्णतः निषिद्ध नहीं कहा जा सकता। किन्तु उनका यह तर्क इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग द्वारा सेवा-शर्तों के विनियमन का जो सीमित क्षेत्र निर्धारित किया गया है, वही अनुच्छेद 309 के अधीन उसके सक्षम प्राधिकारियों के संचालन हेतु सुरक्षित है। इस सीमित अपवाद को छोड़कर, नियंत्रण का शेष समस्त क्षेत्र अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग के अधीन पूर्णतः उच्च न्यायालय में निहित है। अनुच्छेद 235 द्वारा जो अनुमति प्रदान की गई है, उसे संविधान-निर्माताओं द्वारा अनुच्छेद 309 के अधीन विधानमंडल अथवा राज्यपाल को प्रदत्त ऐसा व्यापक अथवा निरंकुश अधिकार नहीं माना जा सकता, जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 233 और 234 के अंतर्गत जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती एवं नियुक्ति को नियंत्रित करने वाली संपूर्ण संवैधानिक योजना से पृथक होकर कार्य करे। ये दोनों अनुच्छेद—233 और 234—स्पष्टतः अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग द्वारा अनुमत सीमित स्वतंत्र क्षेत्र जैसा कोई भी पृथक क्षेत्र अनुच्छेद 309 के संचालन हेतु परिकल्पित नहीं करते। यह संविधान-निर्माताओं की स्पष्ट मंशा को प्रदर्शित करता है कि जहाँ तक जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीशों के संवर्ग में उपलब्ध रिक्तियों पर भर्ती एवं नियुक्ति का प्रश्न है, वहाँ विधानमंडल अथवा राज्यपाल, उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना, स्वतंत्र रूप से कोई अधिकार-प्रयोग या हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

अब हम उन कथित विसंगतियों पर विचार कर सकते हैं, जो उत्तरदाता उच्च न्यायालय द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को स्वीकार किए जाने पर उत्पन्न होने की बात कही गई है। डॉ. धवन ने तर्क दिया कि यदि अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्यों की नियुक्ति हेतु उपयुक्त प्रावधान बनाने की राज्य विधानमंडल की शक्ति को अनुच्छेद 234 द्वारा निषिद्ध माना जाए, और उस सीमा तक अनुच्छेद 309 को भी अप्रभावी माना जाए, तो अनेक विसंगतिपूर्ण

परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उन्होंने प्रथम रूप से यह प्रस्तुत किया कि अनुच्छेद 236(ख) में परिभाषित "न्यायिक सेवा" का संचालन-क्षेत्र संकुचित हो जाएगा। इस तर्क से सहमत होना संभव नहीं है, क्योंकि "न्यायिक सेवा" की परिभाषा केवल उस सेवा के सदस्यों को चिह्नित करती है। उनकी नियुक्ति किस प्रकार की जानी है, यह अनुच्छेद 233 और 234 से निर्धारित किया जाना है। यदि ये अनुच्छेद राज्य विधानमंडल के किसी वैधानिक हस्तक्षेप को निषिद्ध करते हैं, तो ऐसा हस्तक्षेप इन्हीं दोनों अनुच्छेदों के व्यापक प्रभाव से स्वतः निषिद्ध रहेगा। डॉ. धवन द्वारा इंगित दूसरी कथित विसंगति यह थी कि विधि-निर्माण की शक्ति को पूर्ण प्रभाव दिया जाना चाहिए, जब तक कि उसका स्पष्ट निषेध न हो। यह भी किसी प्रकार की विसंगति नहीं कही जा सकती, क्योंकि अनुच्छेद 309 स्वयं अपने प्रारंभिक शब्दों के अधीन अन्य संवैधानिक प्रावधानों के अधीनस्थ है, और यदि संविधान के अन्य अनुच्छेद किसी क्षेत्र को आच्छादित करते हैं, तो उसे पीछे हटना होगा। अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा निर्मित संपूर्ण संवैधानिक संहिता स्वयं उस क्षेत्र में विधायी शक्ति तथा उसी प्रकार अनुच्छेद 309 *के अधीन* राज्यपाल की स्वतंत्र शक्ति का अपवर्जन है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 245, जो संसद और राज्य विधानमंडलों की विधायी शक्तियों से संबंधित है, स्पष्ट शब्दों में इन शक्तियों को संविधान के अन्य प्रावधानों के अधीन रखता है। अतः उसी तर्क के आधार पर, जिस प्रकार अनुच्छेद 309 अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा सुरक्षित विशिष्ट क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से लागू नहीं हो सकता, उसी प्रकार संसद तथा राज्य विधानमंडल की विधायी शक्तियाँ भी उस क्षेत्र में निष्कासित मानी जाएँगी। डॉ. धवन द्वारा इंगित की गई अगली कथित विसंगति यह थी कि संविधान के अंतर्गत शक्तियों के पृथक्करण की योजना कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक करने के लिए निर्मित की गई है, और यह योजना विधायी शक्ति को अपवर्जित करने तक विस्तृत नहीं होती। उनका तर्क था कि यदि यह माना जाए कि अनुच्छेद 234 अपने विषय-क्षेत्र में उपयुक्त विधायी अधिनियम बनाने की शक्ति को निष्कासित कर देता है, तो इससे ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न होगी जिसकी कल्पना

संविधान-निर्माताओं ने नहीं की थी। इस तर्क को स्वीकार करना कठिन है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 50 के अनुसार न्यायिक कार्यप्रणाली को कार्यपालिका से पृथक रखा जाना आवश्यक है।

इस संवैधानिक योजना को प्रभावी रूप देने के लिए अनुच्छेद 309 को संविधान के अन्य प्रासंगिक अनुच्छेदों—विशेषतः अनुच्छेद 233 और 234—के अधीन रखा गया है। फलस्वरूप, अनुच्छेद 233 और 234 अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण प्रभावशीलता रखते हैं और उनकी कार्यप्रणाली पर न तो अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन राज्यपाल द्वारा की जाने वाली कोई स्वतंत्र कार्रवाई प्रभाव डाल सकती है और न ही उस संबंध में राज्य विधानमंडल द्वारा किया गया कोई स्वतंत्र हस्तक्षेप।

डॉ. धवन ने आगे यह तर्क प्रस्तुत किया कि अनुच्छेद 233 की स्पष्ट भाषा के अनुसार केवल राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति ही सीमित है, राज्य की विधायी शक्ति नहीं। यह तर्क भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि विधायी शक्ति राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति के समपरिमित है। अनुच्छेद 309 के अंतर्गत राज्य लोक सेवा के सदस्यों की सेवा-शर्तों के विनियमन के संबंध में, जैसा कि स्वयं अनुच्छेद 309 का परंतुक स्पष्ट करता है, जिस विषय पर विधायिका कानून बना सकती है, उसी विषय पर राज्यपाल अंतरिम अथवा अंतराल-व्यवस्था के रूप में नियम बना सकता है, जब तक कि वही क्षेत्र विधायी अधिनियम द्वारा विनियमित न कर दिया जाए। अतः दोनों के लिए निर्धारित क्षेत्र एक ही है—अर्थात् राज्य लोक सेवा के कर्मचारियों की सेवा-शर्तों का विनियमन। लोक सेवा के कर्मचारी एक व्यापक वर्ग हैं, जिनकी एक विशिष्ट उपश्रेणी न्यायिक सेवा के सदस्य हैं। किन्तु जहाँ तक न्यायिक सेवा में नियुक्ति का प्रश्न है, यह विषय अनुच्छेद 309 के सामान्य क्षेत्राधिकार से पृथक कर दिया गया है। यह अपवर्जन अनुच्छेद 309 के प्रारंभिक शब्दों को अनुच्छेद 233 और 234 के साथ पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है। इस विषय में राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति का पृथक प्रावधान अनुच्छेद 234 में किया गया है, और उसी अनुच्छेद में निर्धारित प्रक्रिया उस

शक्ति के प्रयोग को नियंत्रित करेगी। यह शक्ति अनुच्छेद 309 से स्वतंत्र रूप से कोई आधार प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि न्यायिक सेवा के सदस्यों के संबंध में अनुच्छेद 309 अपने ही शब्दों में अपवर्जित हो जाता है। अतः अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के अंतर्गत न्यायिक अधिकारियों की कुछ अप्रत्याख्य एवं खुली सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु विधायिका को जो सीमित क्षेत्र प्रदान किया गया है, उसे पीछे की ओर विस्तार देकर अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्यों की नियुक्ति की पद्धति—यहाँ तक कि प्रारंभिक स्तर पर भी—को नियंत्रित करने का अधिकार नहीं माना जा सकता। उस उद्देश्य के लिए संबंधित संवैधानिक प्राधिकारी को उपलब्ध शक्ति का एकमात्र स्रोत अनुच्छेद 234 ही है, और उसे उसी में निर्धारित संपूर्ण प्रक्रिया का पालन करना अनिवार्य है। डॉ. धवन ने इस स्थिति से उबरने का प्रयास करते हुए यह तर्क दिया कि यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाए, तो सबसे बड़ी विसंगति यह उत्पन्न होगी कि अनुच्छेद 234 के अंतर्गत विधायी हस्तक्षेप का पूर्ण निष्कासन हो जाएगा। इसके विपरीत, अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग में उल्लिखित विषयों पर विधायी शक्ति के हस्तक्षेप की स्पष्ट अनुमति है; जबकि जहाँ तक अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति का संबंध है, वहाँ विधायी हस्तक्षेप के निष्कासन का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने तर्क दिया कि एक पूर्णतः विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न होगी—कि न्यायपालिका की भर्ती एवं नियुक्ति के निम्नतम स्तर अर्थात् प्रारंभिक पायदान पर विधायी हस्तक्षेप पूर्णतः निषिद्ध होगा, जबकि शीर्ष स्तर अर्थात् जिला स्तर पर ऐसा निषेध नहीं होगा। यह निराशापूर्ण तर्क भी स्वीकार्य नहीं है। इसका सरल कारण यह है कि जिला न्यायपालिका में जिला न्यायालय स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा नियुक्तियों के प्रश्न पर, अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका के प्रारंभिक स्तर—जैसे मुंसिफ तथा दीवानी न्यायाधीश (कनिष्ठ अथवा वरिष्ठ श्रेणी), जैसा भी मामला हो—दोनों ही स्थितियों में, अनुच्छेद 234 और अनुच्छेद 233 के अधीन राज्य विधानमंडल का हस्तक्षेप पूर्णतः अपवर्जित है। यदि अधीनस्थ न्यायपालिका में प्रारंभिक स्तर पर की जाने वाली नियुक्तियों को, जैसा कि पूर्व में संकेत

किया गया है, अधीनस्थ न्यायपालिका के पिरामिड का आधार स्तर माना जाए, तो अनुच्छेद 234 की स्पष्ट भाषा भर्ती एवं नियुक्ति के लिए एक संपूर्ण प्रक्रिया निर्धारित करती है, जिसमें विधानमंडल जैसी किसी बाहरी संस्था द्वारा कोई हस्तक्षेप या परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जहाँ तक पहले से नियुक्त न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों के विनियमन का प्रश्न है, जिसे द्वितीय स्तर माना जाएगा, वहाँ अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के अनुसार सीमित सीमा तक ऐसा क्षेत्र खुला रखा गया है जहाँ सेवा-शर्तों को विधि द्वारा विनियमित किया जा सकता है। इसी अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त इस सीमित एवं अनुमेय क्षेत्र के कारण ही अनुच्छेद 309 के अधीन राज्यपाल अथवा राज्य विधानमंडल को उस क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति है। इसके विपरीत, अधीनस्थ न्यायपालिका के पिरामिड के शीर्ष स्तर —अर्थात् जिला न्यायाधीशों की भर्ती—के संबंध में अनुच्छेद 233 स्वयं एक संपूर्ण संवैधानिक संहिता प्रदान करता है, जो बाहरी हस्तक्षेप को, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, अपवर्जित करता है। अतः न तो आधार स्तर—अर्थात् अधीनस्थ न्यायपालिका के प्रवेश-बिंदु पर—और न ही पिरामिड के शीर्ष स्तर पर जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रवेश-बिंदु पर राज्य विधानमंडल के किसी हस्तक्षेप की कल्पना की गई है और न ही उसे स्वीकार किया जा सकता है। इसके विपरीत, आवश्यक निहितार्थ से ऐसा हस्तक्षेप निषिद्ध है। इस प्रकार, अधीनस्थ न्यायपालिका में प्रवेश से संबंधित प्रथम स्तर और तृतीय स्तर, दोनों पर राज्य विधानमंडल का कोई अधिकार-क्षेत्र नहीं है। केवल द्वितीय स्तर पर, और वह भी अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग द्वारा जितनी सीमा तक अनुमति दी गई है, राज्य विधानमंडल की सीमित भूमिका स्वीकार्य है—और वह भी भर्ती अथवा नियुक्ति से सर्वथा असंबद्ध है। अतः इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि केवल इसलिए कि द्वितीय स्तर पर—जहाँ अनुच्छेद 309 के अधीन कार्यरत प्राधिकारियों को न्यायपालिका के उन सदस्यों की सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु नियम बनाने अथवा विधायी प्रावधान करने के लिए सीमित एवं स्वतंत्र अवसर उपलब्ध है, जो पहले ही अधीनस्थ

न्यायपालिका के प्रारंभिक स्तर या जिला स्तर पर न्यायिक सेवा में प्रवेश कर चुके हैं—कोई विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इसके पश्चात् डॉ. धवन ने हमारा ध्यान इस न्यायालय की नौ-न्यायाधीशीय संविधान पीठ के निर्णय *इंद्रा साहनी एवं अन्य प्रकरण* (उपर्युक्त) के कंडिका 694 (पृष्ठ 662), कंडिका 738 (पृष्ठ 689) तथा कंडिका 788 (पृष्ठ 720) में की गई टिप्पणियों की ओर आकर्षित किया। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि अनुच्छेद 16 के उपबंध (4) के अंतर्गत राज्य प्राधिकारियों को राज्य के अधीन सेवाओं में आरक्षण प्रदान करने का अधिकार प्राप्त है। उनके अनुसार, एक बार इस संवैधानिक शक्ति का प्रयोग कर लिया जाए, तो अनुच्छेद 234 अथवा अनुच्छेद 233 में निर्धारित प्रक्रिया का पालन न होने के आधार पर उसे सीमित या संकुचित नहीं किया जा सकता। उनका यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 16(4) द्वारा प्रदत्त सक्षमकारी शक्ति का प्रयोग करते समय राज्य विधानमंडल उस निषिद्ध क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता जो अनुच्छेद 233 अथवा अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग के अधीन सुरक्षित है। अर्थात्, न तो वह जिला न्यायपालिका में नियुक्ति के लिए अनुच्छेद 233(2) के विपरीत कोई नया पात्रता-मापदंड निर्धारित कर सकता है, और न ही जिला न्यायपालिका के संबंध में उच्च न्यायालय को अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग के अंतर्गत प्राप्त नियंत्रण को प्रभावित कर सकता है।

यदि अनुच्छेद 16(4) के अधीन कोई आरक्षण नीति लागू की जानी है, तो उसका क्रियान्वयन अनुच्छेद 233 और 234 की संवैधानिक योजना के अनुरूप होना चाहिए, न कि उससे पृथक होकर। डॉ. धवन ने निष्पक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि न तो अनुच्छेद 233 के अधीन जिला संवर्ग में नियुक्तियों से संबंधित 1951 के नियमों में, और न ही अनुच्छेद 234 के अधीन अधीनस्थ न्यायपालिका के संवर्ग में नियुक्तियों हेतु बनाए गए 1955 के नियमों में, पदों के 50% आरक्षण का कोई प्रावधान है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, अनुच्छेद 16(4) एक सक्षमकारी प्रावधान है, और यह उस सक्षम प्राधिकारी को—जिसे किसी

भी सेवा, जिसमें न्यायिक सेवा भी सम्मिलित है, में भर्ती एवं नियुक्ति का दायित्व सौंपा गया है—इस सक्षमकारी शक्ति का प्रयोग कर उपयुक्त आरक्षण प्रदान करने की अनुमति देता है। वास्तव में, इन कार्यवाहियों में पक्षकारों के बीच इस बात को लेकर कोई विवाद नहीं है कि पटना उच्च न्यायालय की सहमति से अनुसूचित जातियों के लिए 14% तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 10% आरक्षण को प्रारंभिक स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती के संदर्भ में पहले ही स्वीकार्य आरक्षण माना जा चुका है। 1955 के नियमों का नियम 20 भी स्पष्ट रूप से ऐसे आरक्षण का संकेत करता है, जिसकी प्रतिशतता एक ओर उच्च न्यायालय तथा दूसरी ओर सरकार के बीच पूर्व में सहमति से निर्धारित की जा चुकी है। यह अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 234 के साथ पढ़ने पर पूर्णतः वैध एवं अनुमेय संवैधानिक उपक्रम होगा। किन्तु इसके आगे, जब तक कि अनुच्छेद 233 और 234 को अनुच्छेद 309 के साथ पढ़ते हुए निर्धारित प्रक्रिया का पालन कर तथा उच्च न्यायालय से परामर्श करके नियमों में विधिवत संशोधन न किया जाए, राज्यपाल स्वयं अपने स्तर पर कोई अतिरिक्त आरक्षण प्रदान नहीं कर सकते। इसी प्रकार, उच्च न्यायालय को पूर्णतः दरकिनार करते हुए अनुच्छेद 16(4) के अधीन किसी स्वतंत्र प्रावधान को विधायी अधिनियम द्वारा भी लागू नहीं किया जा सकता। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ा जाना आवश्यक है। सेवाओं एवं पदों पर नियुक्तियों में प्रशासनिक दक्षता बनाए रखना अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों —जिसमें अन्य पिछड़ा वर्ग भी सम्मिलित हैं— के आरक्षण संबंधी दावों पर विचार करने से पूर्व *एक अनिवार्य शर्त* है। यह सिद्धांत इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा *इंद्रा साहनी प्रकरण* (उपर्युक्त), [2000] 1 एस.सी.सी. 168 = जे.टी. (1999) 9 एस.सी. 557, में प्रतिपादित किया गया है। यदि अनुच्छेद 16(4) को, जैसा कि इस न्यायालय की संविधान पीठ पहले ही निर्णय दे चुकी है, अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ा जाना आवश्यक है, तो वही प्राधिकारी—जिसे संबंधित सेवा के प्रशासन की वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो, उस पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो तथा पर्याप्त विशेषज्ञता भी

हो—अनुच्छेद 335 के निर्देशों को ध्यान में रखते हुए अनुच्छेद 16(4) का उपयोग कर सकता है। जहाँ तक अधीनस्थ न्यायिक सेवा का संबंध है, जिसमें जिला न्यायालय तथा उनके अधीनस्थ न्यायालय सम्मिलित हैं, उन पर पूर्ण नियंत्रण अनुच्छेद 235 के अधीन उच्च न्यायालय में निहित है। उच्च न्यायालय ही ऐसे न्यायिक अधिकारियों की पदोन्नति तथा स्थानांतरण/पदस्थापन को नियंत्रित करता है। न्यायिक सेवा में आरक्षण के माध्यम से पर्याप्त प्रतिनिधित्व के प्रश्न का निर्णय करने के लिए आवश्यक पूर्ण जानकारी तथा विशेषज्ञता भी उच्च न्यायालय के पास ही होती है। अतः न्यायिक सेवा में—चाहे जिला न्यायपालिका के शीर्ष स्तर पर हो अथवा प्रारंभिक स्तर पर—आरक्षित पदों पर प्रवेश करने वाले अभ्यर्थियों के संबंध में आरक्षण की सीमा पर अंतिम स्वीकृति अथवा "ग्रीन सिग्नल" देने का अधिकार केवल उच्च न्यायालय को ही है, क्योंकि वे सभी उसके नियंत्रणाधीन कार्य करेंगे। उच्च न्यायालय द्वारा ऐसी स्वीकृति दिए बिना अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ते हुए लागू करने का कोई अवसर ही उत्पन्न नहीं होता। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि राज्य विधानमंडल अधिनियम की धारा 4 बनाकर स्वयं किस प्रकार यह निर्णय कर सकता है कि जिला एवं अधीनस्थ न्यायपालिका में नियुक्तियों हेतु 50% आरक्षण आवश्यक है, और वह भी न्यायिक प्रशासन की दक्षता को बनाए रखते हुए, जबकि इस प्रशासन पर अनुच्छेद 235 के अनुसार पूर्ण नियंत्रण उच्च न्यायालय का है। जब राज्य विधानमंडल के पास इस महत्वपूर्ण विषय के संबंध में आवश्यक ज्ञान एवं विशेषज्ञता का अभाव है, तब न्यायिक नियुक्तियों के संदर्भ में अनुच्छेद 335 की उपेक्षा करते हुए अनुच्छेद 16(4) के अधीन विधानमंडल द्वारा बनाई गई कोई भी आरक्षण योजना अनिवार्य रूप से असफल हो जाएगी। अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ते हुए जिस प्राधिकारी को अंतिम स्वीकृति अथवा "ग्रीन सिग्नल" देने का अधिकार है, वह केवल उच्च न्यायालय ही हो सकता है। जहाँ तक उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना कठोर एवं निश्चित आरक्षण प्रावधान बनाए जाने का प्रश्न है, वहाँ उच्च न्यायालय को पूर्णतः प्रक्रिया से बाहर कर दिया जाएगा, जो संवैधानिक

योजना के प्रतिकूल है। इन परिस्थितियों में डॉ. धवन का यह व्यापक तर्क कि अनुच्छेद 16(1) के साथ पढ़े गए अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत अवसर की समानता के अधिकार को लागू करने हेतु उच्च न्यायालय का संदर्भ आवश्यक नहीं है, और इसलिए आक्षेपित अधिनियम में कोई दोष नहीं पाया जा सकता—स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डॉ. धवन द्वारा इस न्यायालय के निर्णय *दुर्गाचरण मिश्रा बनाम उड़ीसा राज्य और अन्य,* [1987] 4 एससीसी 646, पर रखा गया भरोसा—जिसमें द्वि-न्यायाधीशीय पीठ ने कंडिका 15 में यह टिप्पणी की थी कि अनुच्छेद 234 के अधीन नियम राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 309 के अंतर्गत प्रदत्त नियम-निर्माण शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाए जाते हैं—उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता। भले ही अनुच्छेद 234 के अधीन कल्पित नियम राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 309 के प्रावधान के अंतर्गत बनाए जाएँ, तथापि वह शक्ति स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 234 तथा अनुच्छेद 233 द्वारा सीमित एवं विनियमित है। इन प्रावधानों के अंतर्गत—एक स्थिति में उच्च न्यायालय से परामर्श तथा दूसरी स्थिति में नियुक्त किए जाने वाले व्यक्तियों के संबंध में उच्च न्यायालय की संस्तुति के रूप में उसकी पूर्ण स्वीकृति —को किसी भी प्रकार से नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

सहायक अपील के समर्थन में श्री द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत तर्कों की ओर आते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने डॉ. धवन के तर्कों को अपनाया, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी तर्क दिया कि अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल की नियम-निर्माण शक्ति उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श की शर्त से सीमित है। जहाँ तक लोक सेवा आयोग का संबंध है, अनुच्छेद 320 के उपबंध (4) के अनुसार, अनुच्छेद 16 के खंड (4) में उल्लिखित किसी प्रावधान को किस प्रकार बनाया जाए अथवा अनुच्छेद 335 के प्रावधानों को किस प्रकार प्रभावी किया जाए, इस विषय में आयोग से परामर्श करना आवश्यक नहीं है। अतः श्री द्विवेदी ने यह तर्क दिया कि लोक सेवा आयोग से परामर्श अनुच्छेद 16(4) के संदर्भ में आवश्यक नहीं है, और यदि ऐसा है तो आवश्यक निहितार्थ से अनुच्छेद 234 के अंतर्गत

उच्च न्यायालय से परामर्श को भी उसी स्तर पर माना जाना चाहिए। परिणामस्वरूप, अनुच्छेद 16(4) के अधीन आरक्षण नीति संबंधी किसी निर्णय के लिए उच्च न्यायालय से परामर्श आवश्यक नहीं माना जाना चाहिए। इस तर्क को स्वीकार करना कठिन है। लोक सेवा आयोग केवल एक परीक्षा-संचालन निकाय है, जो विज्ञापित पदों पर नियुक्ति हेतु अभ्यर्थियों की परीक्षा करता है। अतः पदों पर आरक्षण निर्धारित करने से संबंधित नीतिगत निर्णय से उसका कोई संबंध नहीं है। ऐसी नीति अनुच्छेद 16(4) के अधीन उस प्राधिकारी द्वारा बनाई जानी होती है, जो लोक सेवा आयोग को विज्ञापित पदों को भरने हेतु चयन प्रक्रिया प्रारंभ करने के लिए कहता है, और वह भी विज्ञापन में निर्धारित शर्तों के अधीन। स्वाभाविक रूप से, इस प्रकार का परामर्श संविधान के अनुच्छेद 234 के अंतर्गत उच्च न्यायालय से किए जाने वाले परामर्श के समकक्ष नहीं माना जा सकता।

जैसा कि पूर्व में देखा गया है, अनुच्छेद 234 द्वारा परिकल्पित उच्च न्यायालय से परामर्श का उद्देश्य न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संरक्षण संबंधी संवैधानिक आदेश को प्रभावी बनाना है, जो संविधान की मूल संरचना का अंग है। लोक सेवा आयोग पर ऐसा कोई संवैधानिक दायित्व नहीं है। परीक्षण या परीक्षा लेने वाले निकाय से परामर्श के दायरे की तुलना उस नियुक्तिकर्ता निकाय से किए जाने वाले परामर्श से कभी नहीं की जा सकती, जिसका वह केवल एक अभिकर्ता है। यह भी उल्लेखनीय है कि “परामर्श” का वास्तविक सार यह है कि सलाह देने हेतु एक वास्तविक एवं ईमानदार आमंत्रण दिया जाए तथा उस सलाह पर वास्तविक एवं ईमानदार विचार किया जाए। यह तभी संभव है जब संबंधित पक्ष को पर्याप्त जानकारी एवं पर्याप्त समय दिया जाए, ताकि वह उपयोगी सलाह प्रस्तुत कर सके। यह समझना कठिन है कि अनुच्छेद 234 के अधीन भर्ती नियमों के निर्माण से पूर्व राज्यपाल जब लोक सेवा आयोग से परामर्श करते हैं, तब वे उसी प्रकार की सलाह कैसे प्राप्त कर सकते हैं जैसी कि विधिवत परामर्श के दौरान उच्च न्यायालय से प्राप्त की जाती है। परामर्श की प्रक्रिया में लोक सेवा आयोग जो सलाह दे सकता है, वह केवल अनुच्छेद 320 की संवैधानिक

आवश्यकताओं तक सीमित होगी। यह उस प्रकार के परामर्श एवं सलाह से पूर्णतः भिन्न है, जो उच्च न्यायालय से प्राप्त की जानी होती है, क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 235 के अधीन अधीनस्थ न्यायपालिका पर पूर्ण नियंत्रण उच्च न्यायालय का है तथा वह प्रभावी न्यायिक नियुक्तियों के निर्माण से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। इसी कारण चयन प्रक्रिया के माध्यम से प्रारंभिक स्तर तथा जिला न्यायपालिका के शीर्ष स्तर दोनों पर उपयुक्त सामग्री उपलब्ध कराने की दृष्टि से उच्च न्यायालय की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। अतः अनुच्छेद 234 को अनुच्छेद 235 के साथ पढ़ते हुए उच्च न्यायालय से किया जाने वाला परामर्श, संविधान के अनुच्छेद 320 के अंतर्गत पूर्णतः भिन्न प्रकृति के कार्य करने वाले लोक सेवा आयोग से किए जाने वाले परामर्श की तुलना में सर्वथा अलग स्तर पर स्थित है।

स्वाभाविक रूप से, इसलिए उच्च न्यायालय से परामर्श का सीधा संबंध उस नीतिगत निर्णय से होगा कि कितने पद विज्ञापित किए जाएँ, जिला न्यायपालिका की वास्तविक आवश्यकताएँ क्या हैं, तथा क्या ऐसा कोई आरक्षण प्रदान किया जा सकता है जिसे राज्य में न्यायिक प्रशासन की दक्षता बनाए रखते हुए राज्यपाल द्वारा बनाए गए नियमों में समाविष्ट किया जा सके। यह भी उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालय से परामर्श के संबंध में अनुच्छेद 16(4) को अपवर्जित करने वाला कोई स्पष्ट प्रतिबंध नहीं है, जैसा कि लोक सेवा आयोग से परामर्श के संदर्भ में अनुच्छेद 320(4) में पाया जाता है। यही भिन्नता तथा उच्च न्यायालय से परामर्श को अपवर्जित करने वाले किसी प्रावधान का अभाव, संविधान-निर्माताओं की इस मंशा को स्पष्ट करता है कि अनुच्छेद 16(4) के अधीन नीतिगत निर्णय राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही लिया जाना चाहिए, जब न्यायिक सेवा में भर्ती एवं नियुक्तियों को नियंत्रित करने वाले उपयुक्त नियम बनाए जाएँ—चाहे वह जिला न्यायपालिका के शीर्ष स्तर पर हो अथवा प्रारंभिक स्तर पर। श्री द्विवेदी का यह तर्क कि विधायी शक्ति अनुच्छेद 235 और 234 से स्वतंत्र तथा उनसे *पृथक* रूप से विद्यमान है, उन विस्तृत कारणों के प्रकाश में स्वीकार नहीं किया जा सकता जो हमने डॉ. धवन के तर्कों को अस्वीकार करते

समय दिए हैं। इसी प्रकार, संविधान पीठ के निर्णय *इंद्र साहनी का मामला* (उपरोक्त) में माननीय न्यायाधीशों—न्यायमूर्ति पांडियन के कंडिका 243, न्यायमूर्ति सावंत के कंडिका 555 तथा न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह के कंडिका 383—में की गई टिप्पणियों से अपने तर्क को समर्थन देने का श्री द्विवेदी का प्रयास भी उनके किसी काम नहीं आ सकता। किसी संवर्ग में पदों के आरक्षण के प्रश्न को उस संवर्ग में पदों के सृजन के प्रश्न के समकक्ष नहीं माना जा सकता। एक बार संवर्ग में पदों का सृजन हो जाने के बाद, उनमें से कितने पद सामान्य वर्ग से तथा कितने पद आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों से भरे जाएँगे, यह एक नीतिगत निर्णय होगा, जिसे अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ते हुए लिया जाना चाहिए। और जहाँ तक न्यायिक सेवा का संबंध है, जैसा कि हमने पूर्व में देखा है, यह निर्णय केवल सक्षम प्राधिकारी—अर्थात् उच्च न्यायालय—द्वारा राज्यपाल के साथ संवाद के माध्यम से ही लिया जा सकता है। अतः उपर्युक्त *इंद्रा साहनी प्रकरण* में माननीय न्यायाधीशों द्वारा अनुच्छेद 16(4) के सामान्य क्षेत्र एवं विस्तार के संबंध में की गई टिप्पणियाँ—उन सेवाओं के संदर्भ में, जहाँ संबंधित सक्षम प्राधिकारी स्वयं ही उच्च न्यायालय जैसी अन्य संस्थाओं से परामर्श किए बिना आरक्षण लागू कर सकते हैं—श्री द्विवेदी के इस तर्क को समर्थन नहीं दे सकतीं कि न्यायिक सेवाओं में उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना भी संबंधित प्राधिकारी आरक्षण लागू करने के लिए सक्षम है। अपीलकर्ता-राज्य के विद्वान अधिवक्ता द्वारा अन्य राज्यों के राज्यपालों—जैसे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल—द्वारा उच्च न्यायालयों से परामर्श करके बनाए गए विभिन्न नियमों पर रखा गया भरोसा भी किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि वे नियम अनुच्छेद 234 अथवा जहाँ आवश्यक हो, अनुच्छेद 233 में निर्धारित प्रक्रिया का पालन करते हुए तथा उच्च न्यायालयों से परामर्श करके ही बनाए गए थे। इसी प्रकार, राज्यपाल संवर्गों का सृजन कर सकते हैं तथा अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के अंतर्गत सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु प्रावधान कर सकते हैं—यह दर्शाने के लिए श्री द्विवेदी द्वारा जिन निर्णयों पर भरोसा किया गया, वे भी वर्तमान विवाद के संदर्भ में अप्रासंगिक हैं। अपीलकर्ता-

राज्य के विद्वान अधिवक्ता द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास कि न्यायिक सेवा भी राज्य सेवा का ही एक भाग है तथा अनुच्छेद 12 के अर्थ में "राज्य" है, जिसके प्रशासनिक निर्णय अनुच्छेद 226 के अंतर्गत रिट-क्षेत्राधिकार के अधीन आते हैं, भी हमारे विचारार्थ प्रस्तुत मूल प्रश्न का समाधान नहीं करता। उच्च न्यायालय भले ही अनुच्छेद 12 के अर्थ में एक "प्राधिकरण" हो तथा उसके प्रशासनिक निर्णय न्यायिक पक्ष पर उसके रिट-क्षेत्राधिकार के अधीन आते हों, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि न्यायिक सेवाओं के संचालन हेतु न्यायिक अधिकारियों की भर्ती के मामले में उच्च न्यायालय की भूमिका अथवा राय को राज्य विधानमंडल द्वारा आक्षेपित अधिनियम जैसे प्रावधान बनाकर पूर्णतः दरकिनार किया जा सकता है, जबकि ऐसा अधिनियम बनाते समय राज्य विधानमंडल से यह अपेक्षित ही नहीं था कि वह उच्च न्यायालय सहित किसी अन्य संस्था से परामर्श करे।

निस्संदेह, श्री द्विवेदी इस सीमा तक सही थे जब उन्होंने यह तर्क दिया कि दीवानी अपील संख्या 9072/1996 में उच्च न्यायालय के समक्ष ऐसा कोई अवसर नहीं था कि वह इस नीति को—जो उच्च न्यायालय के इस दृष्टिकोण में परिलक्षित होती है कि यदि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थी सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों के समान योग्यता रखते हों, तो उन्हें नियुक्ति में वरीयता दी जाए—एकमात्र युक्तिसंगत नीति के रूप में स्वीकार करे। यह सत्य है कि उच्च न्यायालय के लिए ऐसा अभ्यास करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि उसके समक्ष केवल यह संक्षिप्त प्रश्न विचाराधीन था कि क्या आक्षेपित अधिनियम, विशेष रूप से उसकी धारा 4, जिला न्यायपालिका में भर्ती के संदर्भ में अपने आप लागू हो सकती है। इस सीमा तक, आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया उपर्युक्त तर्क अनावश्यक एवं अप्रासंगिक होने के कारण कायम नहीं रखा जा सकता।

अब हम 20 जनवरी, 2000 को श्री द्विवेदी द्वारा अपीलकर्ता-राज्य की ओर से प्रस्तुत लिखित निवेदनों का संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं। जैसा कि हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं, इस तर्क से सहमत होना हमारे लिए संभव नहीं है कि पदों के आरक्षण से उपलब्ध रिक्तियों

पर नियुक्तियाँ करने की उच्च न्यायालय की शक्ति सीमित नहीं होती। उन मामलों में, जहाँ उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात आरक्षण किया जाता है, स्थिति पूर्णतः भिन्न आधार पर खड़ी होती है, क्योंकि उस स्थिति में उच्च न्यायालय स्वयं ही अनुच्छेद 234 अथवा उस संदर्भ में अनुच्छेद 233 के अधीन नियम बनाने वाली प्राधिकारी से इस बात पर सहमत होता है कि किसी संवर्ग में पूर्व से सृजित पदों में चिह्नित रिक्तियों पर आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों की अनुशंसा की जाए। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालय को दरकिनार करके ऐसा अभ्यास राज्य विधानमंडल द्वारा अथवा अनुच्छेद 309 के अधीन राज्यपाल द्वारा किया जा सकता है। जैसा कि पहले देखा गया है, संबंधित संवैधानिक योजना ऐसे किसी अभ्यास की अनुमति नहीं देती। इस तर्क से भी सहमत होना संभव नहीं है कि विधानमंडल द्वारा बनाए गए किसी विधि के स्पष्ट अपवर्जन के अभाव में, अनुच्छेद 233 और 234 से विधायी शक्ति अप्रभावित बनी रहती है। इसके विपरीत, जैसा कि पूर्व में देखा गया है, अनुच्छेद 309 तथा अनुच्छेद 245 के प्रारम्भिक शब्दों के कारण, अनुच्छेद 233 और 234 में जो व्यवस्था प्रदान की गई है, वह अपने आप में एक पूर्ण संहिता है, जिसे उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना न तो विधानमंडल स्वतंत्र रूप से स्पर्श कर सकता है और न ही नियम बनाने वाली प्राधिकारी। *एम.एम. गुप्ता एवं अन्य बनाम जम्मू एवं कश्मीर राज्य एवं अन्य,* (उपर्युक्त) के मामले में कंडिका 16 एवं 17 में की गई उन टिप्पणियों पर रखा गया भरोसा, जिनमें यह कहा गया था कि नियुक्ति प्राधिकारी राज्यपाल होता है, भी श्री द्विवेदी के पक्ष को आगे नहीं बढ़ा सकता। इसका सरल कारण यह है कि अनुच्छेद 234 और 233 की योजना के अंतर्गत, एक बार उच्च न्यायालय से प्रभावी परामर्श कर लिया जाता है और अनुच्छेद 234 के अनुसार नियम बना लिए जाते हैं तथा उन्हीं नियमों के अनुसार चयन कर लिया जाता है, अथवा जब उच्च न्यायालय अनुच्छेद 233 के अधीन नियुक्तियों की अनुशंसा कर देता है, तब चयन प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। उसके पश्चात केवल वास्तविक नियुक्ति आदेश जारी करने का औपचारिक कार्य ही राज्यपाल द्वारा किया जा सकता है। किन्तु

इससे किसी भी प्रकार से न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा उच्च न्यायालय की शक्ति में हस्तक्षेप नहीं होगा। राज्यपाल, अनुच्छेद 234 के अनुसार उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करके नियम बनाते समय, तथा अनुच्छेद 233 के अधीन उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर कार्य करते समय, केवल चयनित अभ्यर्थियों के वास्तविक नियुक्ति आदेश जारी करने का अंतिम औपचारिक कार्य करता है। परंतु ये चयनित अभ्यर्थी, अनुच्छेद 233(2) के अनुसार उच्च न्यायालय द्वारा की गई छनाई की प्रक्रिया से गुजर चुके होते हैं, अथवा अनुच्छेद 234 द्वारा शासित मामलों में, उस अनुच्छेद के अधीन उच्च न्यायालय से परामर्श करके बनाए गए नियमों में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार चयनित किए जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस संबंध में मंत्रिपरिषद् अथवा विधानमंडल, उच्च न्यायालय को दरकिनार करके, राज्यपाल को स्वतंत्र रूप से कुछ कह सकता हो। संसदीय मंत्रिमंडल की विधानमंडल के प्रति उत्तरदायित्व के संबंध में *शमशेर सिंह आदि बनाम पंजाब राज्य और अमेरिका:*आदि, एआईआर (1974) एससी 2192, के मामले का संदर्भ, उस मुख्य प्रश्न के विचार में, जिससे हम संबंधित हैं, पूर्णतः अप्रासंगिक है। अनुच्छेद 233 से 235 की योजना को देखते हुए, श्री द्विवेदी का यह तर्क स्वीकार करना कठिन है कि भर्ती की प्रक्रिया, उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना, या तो किसी विधायी अधिनियम द्वारा अथवा अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा निर्धारित की जा सकती है। श्री द्विवेदी का यह आगे का तर्क कि संसदीय शासन प्रणाली भी संविधान की एक मूल विशेषता है, भी उनके पक्ष को आगे नहीं बढ़ा सकता। इसका सरल कारण यह है कि स्वयं अनुच्छेद 235, अनुच्छेद 309 के साथ पढ़े जाने पर, विधायी शक्ति पर सीमाएँ निर्धारित करता है, जहाँ तक जिला न्यायपालिका तथा अधीनस्थ न्यायपालिका में भर्ती और नियुक्ति के विषयों का संबंध है, क्योंकि ये विषय, जैसा कि पहले देखा गया है, अनुच्छेद 233 और 235 की पूर्ण संहिता द्वारा आच्छादित हैं। श्री द्विवेदी द्वारा एक ओर विज्ञापित पदों पर भर्ती हेतु चयन प्रक्रिया और दूसरी ओर संवर्ग में पदों के आरक्षण के बीच जो भेद प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, वह वास्तविक नहीं है। जैसा

कि पहले देखा जा चुका है, भर्ती और नियुक्तियाँ पहले से सृजित संवर्गीय पदों पर ही की जानी होती हैं, और एक बार पद सृजन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने के पश्चात, आगे का प्रश्न कि इन पदों को कैसे भरा जाएगा तथा किस स्रोत अथवा किस वर्ग के अभ्यर्थियों से भरा जाएगा, यह पूर्णतः उन नियमों पर निर्भर करेगा जो राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 234 के संदर्भ में उच्च न्यायालय से परामर्श करके बनाए गए हों, और अनुच्छेद 233 के अधीन यह पूर्णतः उच्च न्यायालय की अनुशंसाओं के अधीन रहेगा। श्री द्विवेदी का यह निवेदन कि संवर्ग का गठन सरकार के विशेष अधिकार-क्षेत्र में आता है और राज्य न्यायिक सेवा के गठन का भाग है, उस मुख्य प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता कि किसी दिए गए संवर्ग में सृजित पदों को कैसे भरा जाए और किस वर्ग के अभ्यर्थियों से भरा जाए। यह प्रश्न मूलतः किसी दिए गए संवर्ग में पहले से विद्यमान, सृजित एवं स्वीकृत पदों पर भर्ती और नियुक्ति के क्षेत्र से संबंधित है। अनुच्छेद 37, 38 और 46 को अनुच्छेद 16(4) के साथ पढ़कर उन पर रखा गया भरोसा भी हमारे विचारार्थ प्रस्तुत प्रश्न के निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। श्री द्विवेदी द्वारा *इंद्रा साहनी के मामले, डॉ. प्रीति श्रीवास्तव एवं अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य एवं अन्य* [1999] 7 एससीसी 120 तथा *दुर्गाचरण मिश्र बनाम उड़ीसा राज्य एवं अन्य (उपरोक्त)* के निर्णयों पर रखा गया भरोसा भी उस प्रश्न के समाधान में कोई प्रभावी सहायता नहीं कर सकता जिससे हम संबंधित हैं। प्रथम दो मामलों में आरक्षण की सामान्य योजना तथा यह कि उसे राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रणाधीन किसी सेवा में किस सीमा तक लागू किया जा सकता है, न्यायिक सेवा के किसी संदर्भ के बिना विचारित किया गया था; अतः वे श्री द्विवेदी के लिए सहायक नहीं हो सकते। जहाँ तक *श्रीमती ए. लक्ष्मीकुट्टी* के मामले का संबंध है, संबंधित अनुच्छेदों में की गई टिप्पणियाँ भी अपीलकर्ता-राज्य की ओर से श्री द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का समर्थन नहीं करतीं। भले ही न्यायिक सेवा को राज्य की लोक सेवा माना जाए और इस प्रकार वह राज्य के अधीन एक "सेवा" हो, जैसा कि उक्त निर्णय में कहा गया है, जिससे संविधान के अनुच्छेद 12 और 226 लागू होते हों, फिर भी विचारणीय प्रश्न यह

बना रहता है कि क्या अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती और नियुक्ति की वह योजना, जो स्वयं संविधान द्वारा निर्धारित की गई है, किसी विधि या नियम द्वारा, उक्त संवैधानिक योजना से परे जाकर, अतिक्रमित, संकुचित अथवा बाधित की जा सकती है। *श्रीमती ए. लक्ष्मीकुट्टी* के निर्णय में इस प्रश्न पर विचार नहीं किया गया था। यद्यपि राज्य की न्यायिक सेवा में कार्यरत न्यायिक अधिकारी राज्य के अधीन अधिकारी होंगे, और उस सिद्धांत के अनुसार अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के अधीन उनकी सेवा-शर्तें सीमित सीमा तक राज्य अथवा राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से स्वतंत्र रूप से निर्धारित की जा सकती हैं, तथापि अनुच्छेद 233 और 234, जैसा कि पहले देखा गया है, पूर्णतः भिन्न आधार पर स्थित हैं और वे उन प्रावधानों द्वारा आवृत्त क्षेत्र में उच्च न्यायालय को दरकिनार करके किसी स्वतंत्र अतिक्रमण की अनुमति नहीं देते। इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि अनुच्छेद 235 के द्वितीय भाग के अंतर्गत सेवा-शर्तों में से एक के रूप में वेतनमान निर्धारित करना, उस "नियंत्रण" की अभिव्यक्ति के अंतर्गत नहीं आता जो उच्च न्यायालय में निहित है, जैसा कि *श्रीमती ए. लक्ष्मीकुट्टी* के मामले में प्रतिपादित किया गया है। किन्तु यह समझना कठिन है कि आरक्षण को वेतनमान निर्धारित करने के समान कैसे माना जा सकता है। न्यायिक सेवा के सदस्यों को वेतनमान उपलब्ध कराने का सीधा प्रभाव राज्य के कोष तथा जिला न्यायपालिका के मामलों में राज्य की समेकित निधि पर पड़ता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसे न्यायिक पदों पर भर्ती भी राज्य द्वारा, अनुच्छेद 233 और 234 की आवश्यकताओं से *परे जाकर*, नियंत्रित की जा सकती है। श्री द्विवेदी का अगला लिखित निवेदन, जिसमें इस न्यायालय के *बेलसंड शुगर कंपनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य एवं अन्य, जे.टी.* (1999) 5 एस.सी. 422 के निर्णय पर भरोसा रखा गया है, कि आरक्षण एक विशेष विषय है और इसलिए "नियुक्तियों" की सामान्य अभिव्यक्ति उसके अंतर्गत नहीं आएगी, स्वीकार नहीं की जा सकती। इसका सरल कारण यह है कि एक बार किसी संवर्ग में पद सृजित और स्वीकृत हो जाने के पश्चात, अनुच्छेद 309 अथवा अनुच्छेद 16(4) के अधीन

कोई भी स्वतंत्र आदेश या निर्देश यदि उन पदों पर भर्ती और नियुक्ति के क्षेत्र में अतिक्रमण करता है, जिसे संविधान-निर्माताओं ने विशेष रूप से राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके अथवा, जैसा भी मामला हो, उच्च न्यायालय की सहमति या अनुशंसा से संचालित किए जाने हेतु सुरक्षित रखा है, तो ऐसा अतिक्रमण पूर्णतः अधिकारातीत रहेगा और उसे अनुच्छेद 16(4) द्वारा परिकल्पित आरक्षण के प्रावधानों के आधार पर वैध नहीं ठहराया जा सकता। श्री द्विवेदी द्वारा *चंद्र मोहन के* मामले के निर्णय पर यह दिखाने हेतु रखा गया भरोसा कि शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण नहीं है, उसमें की गई उन टिप्पणियों के आलोक में समझा जाना चाहिए जो अनुच्छेद 235(2) के अधीन राज्य प्राधिकारियों के कार्यक्षेत्र की अनुमेय सीमा के संबंध में की गई थीं। इन टिप्पणियों का अधीनस्थ न्यायपालिका में जिला स्तर तक के प्रवेश पदों पर प्रारंभिक भर्ती के संदर्भ में न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच शक्तियों के पूर्ण पृथक्करण से कोई संबंध नहीं है। यद्यपि अनुच्छेद 234 के अधीन नियम संबंधित राज्य के राज्यपाल द्वारा बनाए गए कहे जा सकते हैं, तथापि अनुच्छेद 234 और 309 को संयुक्त रूप से पढ़ने पर तथ्य यही रहता है कि इन नियमों को प्रभावी होने के लिए, उनके प्रख्यापन हेतु उसमें निर्धारित संवैधानिक प्रक्रिया की आवश्यकताओं को पूरा करना होगा। यह वैकल्पिक तर्क कि जब राज्य आरक्षण लागू करने हेतु उच्च न्यायालय को प्रस्ताव भेजता है, तब उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 15(4), 16(4), 38 और 46 के आदेश का पालन करने के लिए बाध्य है और उसे ऐसे कर्तव्य-बोध के साथ प्रत्युत्तर देना चाहिए, वर्तमान मामले के तथ्यों पर कोई सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि हम ऐसी स्थिति से संबंधित नहीं हैं। बिहार सरकार द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके अनुच्छेद 233 और 234 के अधीन बनाए गए नियम यहाँ परीक्षण के अधीन नहीं हैं। हमारे विचारार्थ केवल संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या इन नियमों में उपयुक्त प्रावधान के अभाव में राज्य विधानमंडल स्वयं हस्तक्षेप करके, उच्च न्यायालय को दरकिनार करते हुए, अधीनस्थ न्यायपालिका के सभी पदों में निश्चित आरक्षण-कोटा का एक सामान्य नियम निर्धारित कर सकता है। मंडल

आयोग की प्रतिवेदन का भी उस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है जिससे हम संबंधित हैं। यद्यपि न्यायपालिका में नियुक्ति हेतु आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करना एक प्रशंसनीय उद्देश्य हो सकता है, फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि *जो भी उचित हो, वह उचित तरीके से ही किया जाना चाहिए, अन्यथा बिल्कुल नहीं।* वर्तमान मामले में भी न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों हेतु 24% आरक्षण को उच्च न्यायालय द्वारा पहले ही स्वीकार किया जा चुका है और उसी के अनुसार वर्षों से नियुक्तियाँ की जा रही हैं। एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 द्वारा, अन्य पिछड़े वर्गों जैसी अन्य आरक्षित श्रेणियों को सम्मिलित करके, उच्च न्यायालय को पूर्णतः दरकिनार करते हुए और उससे परामर्श की कोई आवश्यकता माने बिना, आरक्षण का यह प्रतिशत बढ़ाकर 50% किया जा सकता है। ऐसा विधायी अधिनियम संविधान के संबंधित अनुच्छेदों की कसौटी पर स्वीकार्य नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रश्न का उत्तर समुदाय के दुर्बल वर्गों के लिए आरक्षण की योजना के आधारभूत माने गए संवैधानिक दर्शन के सामान्य सिद्धांतों के आलोक में नहीं दिया जा सकता।

अब समय आ गया है कि हम इस न्यायालय तथा अन्य उच्च न्यायालयों के उन निर्णयों का उल्लेख करें, जिन पर विवादरत पक्षों के विद्वान अधिवक्ताओं ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में भरोसा रखा है। इस न्यायालय की तीन-न्यायाधीशों की पीठ ने एम. एम. गुप्ता के मामले में, जिसमें न्यायमूर्ति आर. एस. पाठक (जैसा कि वे उस समय थे) ने निर्णय लिखा था, न्यायपालिका की स्वतंत्रता के प्रश्न पर विचार करते हुए स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि राज्य तथा केंद्र स्तर पर न्यायिक पदों पर नियुक्ति की कोई भी ऐसी योजना, जो उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना कार्यपालिका द्वारा बनाई जाए, न्यायपालिका की स्वतंत्रता को स्पष्ट रूप से प्रभावित करेगी। इस संबंध में महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ अनुच्छेद 33 और 34 में पाई जाती हैं। उनके प्रासंगिक अंश इस प्रकार हैं :

"…. न्यायपालिका की स्वतंत्रता हमारे संविधान के मूल सिद्धांतों में से एक तथा उसकी एक आधारभूत आवश्यकता है। हमारे संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की सुरक्षा हेतु संबंधित प्रावधान निहित हैं। संविधान का अनुच्छेद 50, जिसमें यह उपबंध किया गया है कि "राज्य, राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए कदम उठाएगा", न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखने की परिकल्पना करता है।

दुर्भाग्यवश, कुछ समय से न्यायिक नियुक्तियों के मामलों में राज्य तथा केंद्र — दोनों स्तरों पर — कार्यपालिका के हस्तक्षेप की एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति दिखाई देती है। … संविधान का अनुच्छेद 235 न्यायिक प्रशासन का नियंत्रण पूर्णतः उच्च न्यायालय में निहित करता है, सिवाय जिला न्यायाधीशों की प्रारंभिक नियुक्ति और पदस्थापन तथा इन अधिकारियों की सेवा से बर्खास्तगी, पदच्युति अथवा सेवा-समापन के मामलों के। इन मामलों में भी संविधान की अपेक्षा यही है कि राज्यपाल उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही कार्य करे। यदि नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय की उपेक्षा करने का प्रयास किया जाता है और कार्यपालिका स्वयं नियुक्ति करना चुनती है, तो न्यायपालिका की स्वतंत्रता प्रभावित होगी ……."

उपर्युक्त स्थापित विधिक स्थिति के आलोक में, इस निष्कर्ष से बचने का कोई मार्ग नहीं है कि यदि जिला स्तर अथवा निम्नतम स्तर की अधीनस्थ न्यायपालिका में नियुक्ति की प्रक्रिया को उपलब्ध रिक्तियों में किसी विशेष वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु आरक्षण के निर्देश द्वारा सीमित अथवा संकुचित करने का प्रयास किया जाता है, तो यह निश्चित रूप से न्यायिक

अधिकारियों के पदों को भरने हेतु उपयुक्त अभ्यर्थियों की नियुक्ति के संबंध में उच्च न्यायालय की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। इसका उद्देश्य न्यायिक प्रशासन की प्रभावी व्यवस्था को साकार करना तथा न्यायपालिका को पूर्णतः सजीव, प्रभावशाली और परिणामोन्मुख बनाना है। ऐसी स्वतंत्र न्यायपालिका, जैसा कि पहले ही चर्चा की जा चुकी है, संवैधानिक व्यवस्था का हृदय है।

अखिल भारतीय न्यायाधीश संघ एवं अन्य के मामले में, न्यायिक सेवाओं की विशेष विशेषताओं को अनुच्छेद 233, 234, 235 और 309 के आलोक में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है। इस न्यायालय की तीन-न्यायाधीशों की पीठ ने, न्यायमूर्ति सावंत द्वारा निर्णय लिखते हुए, भारत संघ तथा राज्यों के अधिकारियों द्वारा दायर पुनर्विचार याचिकाओं का निपटारा करते समय, अनुच्छेद 4 और 5 में निम्नलिखित उपयुक्त टिप्पणियाँ कीं :

> न्यायिक सेवा "रोज़गार" के अर्थ में सेवा नहीं है। न्यायाधीश कर्मचारी नहीं होते। न्यायपालिका के सदस्य के रूप में वे राज्य की संप्रभु न्यायिक शक्ति का प्रयोग करते हैं। वे उसी प्रकार लोक पदों के धारक होते हैं जैसे मंत्रिपरिषद् के सदस्य और विधानमंडल के सदस्य। जब यह कहा जाता है कि हमारे जैसे लोकतंत्र में कार्यपालिका, विधानमंडल और न्यायपालिका राज्य के तीन स्तंभ हैं, तो उसका आशय यह होता है कि राज्य के तीन आवश्यक कार्य राज्य के इन तीन अंगों को सौंपे गए हैं और उनमें से प्रत्येक अपने-अपने रूप में राज्य की सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है।
>
> किन्तु जो लोग वास्तव में राज्य-शक्ति का प्रयोग करते हैं, वे मंत्री, विधायक और न्यायाधीश होते हैं, न कि उनके कर्मचारी, जो उनके निर्णयों को कार्यान्वित करते हैं अथवा कार्यान्वयन में सहायता करते हैं। मंत्रिपरिषद् अथवा राजनीतिक कार्यपालिका, सचिवालय के कर्मचारियों अथवा प्रशासनिक कार्यपालिका से भिन्न होती है, जो राजनीतिक कार्यपालिका के निर्णयों को

लागू करती है। उसी प्रकार विधायक, विधायी कर्मचारियों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार न्यायाधीश भी न्यायिक कर्मचारियों से भिन्न होते हैं। समानता राजनीतिक कार्यपालिका, विधायकों और न्यायाधीशों के बीच है, न कि न्यायाधीशों और प्रशासनिक कार्यपालिका के बीच।

न्यायाधीशों और अन्य सेवाओं के सदस्यों के बीच इस भेद को एक और महत्वपूर्ण कारण से निरंतर ध्यान में रखना आवश्यक है। न्यायिक स्वतंत्रता केवल उसके संबंध में गंभीर घोषणाएँ कर देने से सुरक्षित नहीं की जा सकती। उसे वास्तविकता और व्यवहार — दोनों में सुरक्षित करना आवश्यक है। यह एक सर्वविदित सत्य है कि जो अभावग्रस्त हैं, वे स्वतंत्र नहीं हो सकते। आत्मनिर्भरता स्वतंत्रता की आधारशिला है। समाज का यह हित निहित है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित की जाए, और उसे सुरक्षित करने के लिए कोई भी मूल्य अत्यधिक नहीं माना जा सकता। न्यायाधीशों को आवश्यक साधनों से वंचित रखना और इस प्रकार उन्हें अपने कर्तव्यों के समुचित निर्वहन में बाधित करना, वस्तुतः न्याय को ही दुर्बल और क्षीण करना है।

(कंडिका 4)

अब समय आ गया है कि सभी संबंधित व्यक्ति यह समझें कि न्यायाधीशों की सेवा-शर्तों और अन्य सेवाओं के सदस्यों की सेवा-शर्तों के बीच कोई संबंध नहीं हो सकता। यह सत्य है कि संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्यों की भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों का विनियमन उपयुक्त विधानमंडल द्वारा बनाए गए अधिनियमों से किया जाना है और जब तक ऐसा विधान नहीं बनाया जाता, तब तक राष्ट्रपति और राज्यपाल अथवा उनके नामनिर्दिष्ट व्यक्ति, जैसा भी मामला हो, उनकी भर्ती और सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बनाने के लिए सशक्त हैं। यह भी सत्य है कि

अनुच्छेद 312 के अधीन राज्यसभा द्वारा आवश्यक घोषणा किए जाने के पश्चात संसद को अखिल भारतीय न्यायिक सेवा सृजित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, जिसमें अनुच्छेद 236 में परिभाषित जिला न्यायाधीश के पद से निम्नतर नहीं होने वाले पद सम्मिलित होंगे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि न्यायपालिका के सदस्यों की सेवा-शर्तों का निर्धारण करते समय उनके और अन्य सेवाओं के सदस्यों के बीच कोई भेद न किया जाए, अथवा यह कि सभी सेवाओं के सदस्यों की सेवा-शर्तें समान हों। वास्तव में अन्य सेवाओं के बीच भी उनकी सेवा-शर्तों के संबंध में भेद किया जाता है। न्यायपालिका की सेवा-शर्तों और प्रशासनिक कार्यपालिका की सेवा-शर्तों के बीच जो संबंध रहा, वह एक ऐतिहासिक संयोग मात्र था। पूर्ववर्ती शासकों ने न्यायिक तथा प्रशासनिक — दोनों सेवाओं के लिए अभ्यर्थियों की भर्ती हेतु केवल एक ही सेवा, अर्थात् भारतीय दीवानी सेवा, का गठन किया था और ऐसी भर्ती के लिए आयोजित परीक्षा में सफल अभ्यर्थियों में से कुछ को प्रशासनिक पक्ष में तथा अन्य को न्यायिक पक्ष में भेजा जाता था।

(कंडिका 5)

हमारे विचार में, संविधान की प्रासंगिक योजना, विशेष रूप से अनुच्छेद 234 से 236 और 309 पर तीन न्यायाधीशों की पीठ का उपरोक्त निर्णय अच्छी तरह से टिका हुआ है और स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि कैसे न्यायिक सेवा, हालांकि राज्य की सामान्य सेवा का एक हिस्सा है, अपने आप में खड़ी है और उस पर किसी भी अतिक्रमण को स्वीकार नहीं कर सकती है क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 235 के दूसरे भाग द्वारा अनुमत सीमित सीमा को छोड़कर कार्यपालिका और/या विधायी से न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत पर आधारित है। अन्यथा न्यायपालिका की स्वतंत्रता की मूल विशेषता समाप्त हो जाएगी। इस

संबंध में श्री द्विवेदी का यह कहना कि न्यायाधिकरणों को भी न्यायिक शक्तियों का लाभ मिला है और पक्षकारों के बीच निर्णय लेना भी इस सवाल पर विचार करने के अलावा है कि अधीनस्थ न्यायपालिका में कार्यकाल के सख्त अर्थों में नियुक्तियां कैसे की जानी चाहिए। एक बार जब इस पहलू पर संवैधानिक योजना स्पष्ट हो जाती है, तो इसे अपना पूरा प्रभाव देना पड़ता है।

अब हम कुछ उच्च न्यायालयों के उन निर्णयों का उल्लेख कर सकते हैं, जिनकी ओर उत्तरदाता उच्च न्यायालय की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ठाकुर ने हमारा ध्यान आकर्षित किया। *के. एन. चंद्रशेखर एवं अन्य बनाम मैसूर राज्य एवं अन्य,* ए.आई.आर. (1963) मैसूर 292 (वी 50 सी 68) के मामले में, मैसूर उच्च न्यायालय की द्वैध पीठ के समक्ष यह प्रश्न विचारार्थ था कि क्या भारत के संविधान के अनुच्छेद 234 को अनुच्छेद 309 के साथ पढ़कर राज्यपाल द्वारा बनाए गए वैधानिक नियमों के विपरीत, जो राज्य की न्यायिक सेवा में मुंसिफों के संवर्ग में भर्ती के मापदंड निर्धारित करते थे, लोक सेवा आयोग स्वयं अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए पृथक उत्तीर्णांक तथा सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों के लिए उससे अधिक उत्तीर्णांक निर्धारित कर सकता है। इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए, न्यायमूर्ति सोमनाथ अय्यर ने द्वैध पीठ की ओर से यह टिप्पणी की कि :

> "अनुच्छेद 234, न्यायिक सेवा में नियुक्तियों को अनुच्छेद 309 के प्रवर्तन-क्षेत्र से अपवर्जित करता है तथा उस प्रयोजन के लिए नियम निर्माण हेतु राज्यपाल को एक प्रकार से विशिष्ट विधायी प्राधिकारी के रूप में स्थापित करता है।"

उपर्युक्त टिप्पणियों को, निःसंदेह, इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा *बी. एस. यादव* (उपरोक्त) के मामले में दिए गए निर्णय के आलोक में सीमित रूप से पढ़ा जाना होगा। श्री ठाकुर द्वारा हमारे विचारार्थ प्रस्तुत अगला निर्णय *एम. आई. नदाफ बनाम मैसूर*

राज्य एवं अन्य, ए.आई.आर. (1967) मैसूर *77* (वी 54 सी 21) का एक अन्य द्वैध पीठ का निर्णय है। उस मामले में मैसूर उच्च न्यायालय की एक अन्य द्वैध पीठ, जिसमें न्यायमूर्ति के. एस. हेगड़े (जैसा कि वे उस समय थे) ने निर्णय लिखा था, को इस प्रश्न पर विचार करना था कि एक बार जब भारत के संविधान के अनुच्छेद 234 को अनुच्छेद 309 के साथ पढ़कर मुंसिफों की भर्ती को नियंत्रित करने हेतु नियम बना दिए जाएँ, तब क्या सेवा की सामान्य शर्तों से संबंधित कोई अन्य स्वतंत्र नियम, जो ऐसे पदों पर भर्ती हेतु अभ्यर्थियों की पात्रता के लिए भिन्न मापदंड निर्धारित करता हो, स्वीकार किया जा सकता है। उस मामले में अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए सामान्य नियम, जो सभी राज्य सेवाओं पर लागू होते थे, यह अनुमति देते थे कि सरकार के अधीन अस्थायी सेवा अथवा किसी स्थानीय प्राधिकरण के अधीन पद पर की गई सेवा को नियमित सेवा के साथ जोड़कर, संबंधित पदों हेतु आवश्यक अनुभव का निर्धारण किया जाए। यद्यपि सामान्य नियमों में इस प्रकार का प्रावधान था, परन्तु अनुच्छेद 234 और 309 के अधीन बनाए गए नियमों में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था। प्रश्न यह था कि क्या सामान्य नियम, जो उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए थे, अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों का अतिक्रमण कर सकते हैं। इस तर्क को अस्वीकार करते हुए कि उच्च न्यायालय के संदर्भ के बिना अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए ये सामान्य नियम, अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा नियंत्रित निम्नतम स्तर के न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के संबंध में लागू हो सकते हैं, न्यायमूर्ति हेगड़े ने इस संबंध में प्रतिवेदन के पृष्ठ 78 और 79 पर कंडिका 9 और 10 में निम्नलिखित महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ कीं:

> "संविधान का अनुच्छेद 309 राज्यपाल को राज्य की दीवानी सेवाओं में नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बनाने की शक्ति प्रदान करता है। किन्तु उस अनुच्छेद के प्रारंभिक शब्द स्वयं यह संकेत करते हैं कि वह संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन है। अनुच्छेद 234 ऐसा ही एक उपबंध है।

संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन राज्यपाल की नियम बनाने की शक्ति न केवल संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन है, बल्कि वह उपयुक्त विधानमंडल द्वारा बनाए गए किसी अधिनियम के भी अधीन है। परन्तु अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल द्वारा बनाए जाने वाले नियम किसी ऐसे अधिनियम के अधीन नहीं होते जिसे उपयुक्त विधानमंडल द्वारा अधिनियमित किया जाए। किन्तु ऐसे नियम केवल राज्य लोक सेवा आयोग तथा उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात ही बनाए जा सकते हैं। उच्च न्यायालय से परामर्श कोई औपचारिकता मात्र नहीं है। वह इस विषय का मूल तत्व है। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि हमारा संविधान न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखने की परिकल्पना करता है। निःसंदेह यह सत्य है कि न्यायिक सेवा भी राज्य की सेवाओं में से एक है, किन्तु उसका अपना विशिष्ट स्वरूप है। राज्य की अन्य सेवाओं के विपरीत, न्यायिक सेवा से अपेक्षा की जाती है कि वह कार्यपालिका से स्वतंत्र रहे। अनेक अवसरों पर उसे राज्य की अन्य सेवाओं द्वारा किए गए कार्यों की शुद्धता अथवा वैधता पर निर्णय देना पड़ता है। ऐसे अवसर भी आते हैं जब उसे सरकार अथवा यहाँ तक कि राज्यपाल द्वारा किए गए किसी कार्य की वैधता पर निर्णय देना होता है। ऐसी स्थिति में न्यायिक शाखा को राज्य की अन्य शाखाओं में से केवल एक शाखा मानना उचित नहीं होगा। इसी कारण संविधान-निर्माताओं ने न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के लिए पृथक प्रावधान करना उचित समझा।

..... हमारा यह दृष्टिकोण कि जिला न्यायाधीशों की सेवा को छोड़कर राज्य की न्यायिक सेवाओं में नियुक्तियाँ केवल संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग तथा उस राज्य पर अधिकार-क्षेत्र रखने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात बनाए गए नियमों के अनुसार ही की जानी चाहिए, न कि संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन उनके द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार, मद्रास उच्च न्यायालय के *एन. देवसहायम बनाम मद्रास राज्य,* ए.आई.आर.

1958 मद्रास 53 तथा राजस्थान उच्च न्यायालय के *राजवी अमर सिंह बनाम राजस्थान राज्य,* ए.आई.आर. (1956) *राजस्थान* 104 के निर्णयों से भी समर्थित होता है।"

हमारे विचार में, मैसूर उच्च न्यायालय का उपर्युक्त निर्णय, इस न्यायालय के उन निर्णयों की श्रृंखला के आलोक में, जिनका हमने पूर्व में उल्लेख किया है और जिनसे संवैधानिक योजना स्पष्ट होती है, पूर्णतः उचित और समर्थित है।

उड़ीसा उच्च न्यायालय की द्वैध पीठ ने *मनोज कुमार पांडे बनाम उड़ीसा राज्य एवं अन्य,* (1982) श्रम विधि टिप्पणियाँ 1826 के मामले में, जिसमें न्यायमूर्ति आर. एन. मिश्र (जैसा कि वे उस समय थे) ने मुख्य न्यायाधीश के रूप में निर्णय लिखा था, उसी प्रकार के प्रश्न पर विचार किया था जो वर्तमान कार्यवाही में हमारे समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत है। अनुच्छेद 234 को अनुच्छेद 309 के साथ पढ़कर बनाए गए उड़ीसा न्यायिक सेवा नियमों में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों हेतु आरक्षण की एक योजना प्रदान की गई थी। उक्त योजना को उड़ीसा विधानमंडल द्वारा उड़ीसा अधिनियम 38, 1975 अधिनियमित करके परिवर्तित करने का प्रयास किया गया। प्रश्न यह था कि क्या अनुच्छेद 234 से परे जाकर तथा अनुच्छेद 245 और 246 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए ऐसा विधायी प्रयास अनुमेय था। यद्यपि पक्षकारों ने अपना विवाद सुलझा लिया था, तथापि उच्च न्यायालय ने इस अत्यंत महत्वपूर्ण लोकहितकारी प्रश्न की परीक्षा की। यद्यपि *प्रथम दृष्टया* इस निर्णय को गौण टिप्पणी माना जा सकता है, किन्तु हमारे विचार में यह वर्तमान मामले में हमारे द्वारा परीक्षण की गई संवैधानिक योजना तथा इस न्यायालय के पूर्व निर्णयों के आलोक में पूर्णतः समर्थित है। इस संबंध में न्यायमूर्ति मिश्र ने प्रतिवेदन के कंडिका 5 में निम्नलिखित टिप्पणी की :

"उड़ीसा नियम, 1964 विशेष रूप से न्यायिक सेवा में भर्ती के लिए बनाए गए हैं। और चूँकि संविधान के कुछ अनुच्छेदों में नियमों को विधान के अधीन बनाया गया है, जबकि अन्य अनुच्छेदों, जैसे अनुच्छेद 234 में, नियमों को विधान के अधीन नहीं बनाया गया है, अतः इन दोनों प्रकार के नियमों के बीच भेद बनाए रखना आवश्यक है। जहाँ संविधान विशेष रूप से राज्यपाल को नियम बनाने की शक्ति प्रदान करता है और उसके नियमों को विधान के अधीन नहीं बनाता, वहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान ने उन नियमों को निर्दिष्ट विषय पर अंतिम मानने का आशय रखा है।

अतः, अनुच्छेद 234 में नियुक्ति के प्रयोजन हेतु राज्यपाल को नियम बनाने के लिए प्रदत्त विशेष अधिकार तथा वर्तमान मामले में ऐसे नियमों — अर्थात् उड़ीसा नियम, 1961 — के बनाए जाने के कारण, यह आवश्यक रूप से अनुसरण करता है कि संविधान के अनुच्छेद 245 और 246(3) के अधीन राज्य विधानमंडल को प्रदत्त शक्ति, अनुच्छेद 245(1) के प्रारंभ में स्थित अपवादात्मक उपबंध के कारण, अनुच्छेद 234 के उपबंधों के अधीन होगी। परिणामस्वरूप, उड़ीसा अधिनियम 38, 1975 संविधान के अनुच्छेद 234 द्वारा आच्छादित न्यायिक सेवा पर, जहाँ तक नियुक्ति का संबंध है, लागू नहीं होगा।"

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी *फ़रज़ंद बनाम मोहन सिंह एवं अन्य,* ए.आई.आर. (1968) इलाहाबाद 67 (वी 55 सी 18) के मामले में इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया है। प्रतिवेदन के पृष्ठ 74 पर कंडिका 31 में निम्नलिखित टिप्पणी की गई :

"अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित उपबंधों को संविधान के भाग 14 से निकालकर भाग 6 में रखने के पीछे का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि नियम निर्माण के मामले में उच्च न्यायालय से परामर्श को वास्तव में प्रभावी बनाया

जाए और इस प्रकार अधीनस्थ न्यायपालिका की कार्यपालिका से स्वतंत्रता सुनिश्चित की जाए। [देखिए ए.आई.आर. (1966) एस.सी. 1987 (अनुच्छेद 14)]। अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन राज्यपाल भर्ती तथा सेवा-शर्तों दोनों से संबंधित नियम बनाने के लिए सक्षम है। राज्यपाल द्वारा बनाए गए नियम केवल तब तक प्रभावी रहते हैं जब तक उस विषय में विधानमंडल द्वारा कोई अधिनियम न बना दिया जाए। अनुच्छेद 309 के अधीन अधिनियम बनाते समय विधानमंडल को, यहाँ तक कि अनुच्छेद 234 द्वारा भी, किसी से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे ही विधानमंडल अधिनियम बनाएगा, उच्च न्यायालय से परामर्श का प्रावधान निरर्थक हो जाएगा। इस स्थिति से बचने तथा न्यायिक सेवा की भर्ती को नियंत्रित करने वाले नियमों को राज्य विधानमंडल के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखने के लिए, अनुच्छेद 234 को भाग 14 से, जिसमें अनुच्छेद 309 सम्मिलित है, अलग कर दिया गया। अनुच्छेद 309 "संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन" है, जिसका आशय और जिसमें अनुच्छेद 234 भी सम्मिलित है। दूसरी ओर, अनुच्छेद 234 संविधान के किसी अन्य उपबंध के अधीन नहीं है। अतः अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियम, अनुच्छेद 309 के अधीन विधानमंडल द्वारा बनाए गए किसी अधिनियम के अधीन नहीं होंगे। फिर, यदि केवल राज्यपाल को ही न्यायिक सेवा की भर्ती हेतु नियम बनाने थे, तो न्यायिक सेवा और अन्य सेवाओं के नियमों के बीच यह भेदभावपूर्ण अंतर करने का कोई औचित्य नहीं था। यह अंतर इसलिए आवश्यक हुआ क्योंकि न्यायिक सेवा के नियम उच्च न्यायालय से परामर्श करके बनाए जाने थे। इन सभी पहलुओं से अनिवार्य रूप से यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुच्छेद 234 केवल नियम निर्माण के मामले में ही उच्च न्यायालय से परामर्श की अपेक्षा करता है।"

अब समय आ गया है कि हम संपूर्ण स्थिति का आकलन करें। न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों के पृथक्करण की संवैधानिक योजना के आलोक में, संविधान-निर्माताओं ने न्यायिक कार्यों के निर्वहन हेतु योग्य व्यक्तियों की भर्ती के लिए प्रासंगिक उपबंध बनाकर यह सुनिश्चित किया है कि न्यायपालिका के निम्नतम स्तर से लेकर जिला न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर तक, निम्न स्तर पर भर्ती के मामले में राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके बनाए गए नियम तथा अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर पर नियुक्तियों के लिए उच्च न्यायालय की अनुशंसा ही ऐसी भर्ती और नियुक्तियों की एकमात्र वैध शक्ति-स्रोत बनी रहे। यह सहज ही समझा जा सकता है कि यदि इन दोनों स्तरों पर उपयुक्त और सक्षम अभ्यर्थियों की भर्ती नहीं की जाएगी, तो न्यायिक व्यवस्था का परिणाम उस उच्च स्तर का नहीं होगा जिसकी अपेक्षा न्यायिक अधिकारियों से की जाती है, ताकि पीड़ित मानवता के उस वर्ग की अपेक्षाओं की पूर्ति हो सके जो अपनी विधिक शिकायतों के निवारण हेतु सक्षम, निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ न्यायपालिका के समक्ष आती है। यदि न्यायालय का पीठासीन अधिकारी विधिक ज्ञान से पूर्णतः सुसज्जित न हो, तो वह वह परिणाम नहीं दे सकेगा जिसकी वादकारी जनता उससे अपेक्षा करती है। अतः, निम्नतम स्तर तथा जिला न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर — दोनों पर उपलब्ध सर्वोत्तम प्रतिभा की भर्ती सुनिश्चित करने हेतु, अनुच्छेद 233 और 234 ने उच्च न्यायालय, जो जिला न्यायपालिका को नियंत्रित करने वाली विशेषज्ञ संस्था है, और राज्यपाल, जो नियुक्ति प्राधिकारी है, के बीच पूर्ण सहभागिता की अनुमति दी है। राज्यपाल लगभग औपचारिक कार्य के रूप में, निम्न स्तर पर लोक सेवा आयोग और उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसित अभ्यर्थियों की नियुक्ति करता है तथा जिला न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर पर भी केवल उन्हीं अभ्यर्थियों को नियुक्त कर सकता है जिनकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय अनुशंसा करता है। यदि राज्य विधानमंडल किसी ऐसे विधायी अधिनियम द्वारा इस प्रक्रिया में स्वतंत्र बाह्य हस्तक्षेप करे, जिसमें उच्च न्यायालय जैसी विशेषज्ञ संस्था से परामर्श की आवश्यकता

न हो, तो ऐसा हस्तक्षेप अनिवार्यतः उस संवैधानिक योजना की कसौटी पर असफल होगा, जो न्यायिक नियुक्तियों को उच्च न्यायालय को दरकिनार करते हुए बाहरी संस्थाओं — चाहे वह राज्यपाल हो, उसे सलाह देने वाली मंत्रिपरिषद् हो अथवा विधानमंडल — के हस्तक्षेप से सुरक्षित रखने के लिए निर्मित की गई है। न्यायिक नियुक्तियों के संदर्भ में, अनुच्छेद 234 के अधीन नियम बनाते समय अथवा अनुच्छेद 233 के अधीन उच्च न्यायालय की अनुशंसा पर नियुक्तियाँ करते समय, राज्यपाल को दिया जाने वाला वास्तविक और प्रभावकारी परामर्श केवल उच्च न्यायालय से ही प्राप्त होता है, जो इन समस्त प्रक्रियाओं की आधारशिला और आत्मा है। यह स्वयंसिद्ध है कि उच्च न्यायालय, जो अधीनस्थ न्यायपालिका पर नियंत्रण रखने वाली वास्तविक विशेषज्ञ संस्था है, न्यायिक अधिकारियों की भर्ती में केंद्रीय और निर्णायक भूमिका निभाता है; क्योंकि न्यायिक सेवा में प्रवेश के उपयुक्त स्तरों पर छनाई की प्रक्रिया से गुजरने के पश्चात, उनकी कार्यप्रणाली पर अनुच्छेद 235 के अधीन वही उच्च न्यायालय नियंत्रण रखता है। यह सहज ही समझा जा सकता है कि जब अनुच्छेद 235 के अधीन जिला न्यायपालिका पर नियंत्रण पूर्णतः उच्च न्यायालय में निहित है, तब उच्च न्यायालय को यह कहने का अधिकार अवश्य होना चाहिए कि जिला न्यायपालिका के निम्नतम स्तर तथा उसके सर्वोच्च स्तर — दोनों पर — किस प्रकार की सामग्री उसके समक्ष उपलब्ध कराई जाए, ताकि वह ऐसे माध्यमों द्वारा प्रभावी रूप से न्याय का वितरण सुनिश्चित कर सके, जिसका अंतिम उद्देश्य पीड़ित वादकारी जनता के लिए न्याय के कुशल प्रशासन को सुनिश्चित करना है। इन परिस्थितियों में, जिला न्यायपालिका के निम्न स्तर अथवा उसके सर्वोच्च स्तर पर नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय को दरकिनार करना स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 234 के अनुसार विधिवत प्रक्रिया का पालन करके राज्यपाल द्वारा बनाए गए नियम तथा अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायपालिका में प्रत्यक्ष भर्ती के माध्यम से राज्यपाल द्वारा की जाने वाली नियुक्तियाँ, जो केवल उच्च न्यायालय की अनुशंसा के आधार पर की जानी हैं, अधीनस्थ न्यायपालिका की भर्ती की एक

पूर्णतः स्वतंत्र और संरक्षित योजना को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती हैं। संविधान-निर्माताओं द्वारा परिकल्पित इस पूर्णतः संरक्षित योजना के साथ, अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा अनुमत सीमाओं से परे जाकर, किसी बाहरी संस्था द्वारा छेड़छाड़ नहीं की जा सकती। यह कहना एक मिथ्या धारणा है कि जिला न्यायाधीशों अथवा अधीनस्थ न्यायपालिका के किसी संवर्ग में पहले से विद्यमान या सृजित एवं स्वीकृत पदों की रिक्तियों को भरने हेतु आरक्षण की कोई योजना लागू करने का भर्ती और नियुक्ति की अवधारणा से कोई संबंध नहीं होगा। उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना उस पर थोपी गई कोई भी आरक्षण योजना, इन रिक्तियों को भरने हेतु योग्य अभ्यर्थियों की भर्ती में उच्च न्यायालय की महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से संकुचित कर देती है और इसलिए आरक्षित पदों पर की गई ऐसी नियुक्तियाँ, इस उद्देश्य के लिए संविधान-निर्माताओं द्वारा निर्मित संवैधानिक योजना से पूर्णतः अधिकारातीत रहेंगी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 16(4) को अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ने पर जो सामाजिक न्याय की अवधारणा आरक्षण की योजना के आधार में निहित है, उसे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उच्च न्यायालय, जो एक उत्तरदायी संवैधानिक प्राधिकारी है, अनिवार्यतः उपेक्षित करेगा। वास्तव में अपेक्षित यह है *कि सही निर्णय सही तरीके से लिया जाए।* वर्तमान मामले के तथ्यों में यह निर्विवाद स्थिति है कि पटना उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर मुंसिफों और दण्डाधिकारियों की भर्ती में अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों हेतु 14% तथा अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों हेतु 10% आरक्षण को पहले ही स्वीकार कर लिया है और बिहार के राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों में ऐसे आरक्षण की अनुमति दी गई है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उच्च न्यायालय के संदर्भ के बिना आरक्षण के उद्देश्य की प्राप्ति संभव नहीं है। किन्तु जैसा कि कहा जाता है — *"आप घोड़े को पानी तक ले जा सकते हैं, परन्तु उसे बलपूर्वक पानी नहीं पिला सकते।"* अतः कार्यपालिका और राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वे उच्च न्यायालय के साथ प्रभावी संवाद स्थापित करें,

ताकि अनुच्छेद 234 के अधीन नियमों के माध्यम से उपयुक्त आरक्षण योजना अपनाई जा सके तथा यदि आवश्यक और व्यवहार्य समझा जाए, तो अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायपालिका में प्रत्यक्ष भर्ती हेतु पदों के आरक्षण का अनुपात भी निर्धारित किया जा सके। यही वह संवैधानिक योजना है जिसका पालन उच्च न्यायालय तथा राज्यपाल के माध्यम से प्रतिनिधित्व करने वाली कार्यपालिका — दोनों को करना अपेक्षित है। किन्तु संवैधानिक योजना के इस मूल तत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न ही उच्च न्यायालय से परामर्श किए बिना, उससे पृथक रहकर, राज्य विधानमंडल द्वारा अपनी कथित स्वतंत्र विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए सम्पूर्ण व्यवस्था को उलट-पुलट किया जा सकता है।

इस प्रश्न को एक ओर रख देने पर भी, आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 की स्पष्ट भाषा के आधार पर ही अपीलकर्ता-राज्य की ओर से प्रस्तुत विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता का तर्क असफल हो जाता है, क्योंकि उक्त धारा वर्तमान संवर्गों में जिला न्यायाधीशों और अधीनस्थ न्यायाधीशों के पदों के भीतर आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु पृथक श्रेणी के पदों के सृजन की परिकल्पना नहीं करती। इसके विपरीत, यह धारा पहले से विद्यमान संवर्गीय पदों में उपलब्ध रिक्तियों को आधार मानती है और समय-समय पर उत्पन्न होने वाली रिक्तियों में नियुक्तियों को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, जिसमें एक सामान्य और कठोर प्रावधान के रूप में 50% रिक्तियाँ आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु सुरक्षित रखने का निर्देश दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि यह धारा उच्च न्यायालय को — और वह भी उससे परामर्श किए बिना — यह आदेश देती है कि वह उपलब्ध रिक्तियों में से 50% पद सामान्य वर्ग के योग्यता-क्रम में चयनित अभ्यर्थियों से न भरे और उन रिक्तियों को भरने हेतु कथित रूप से आरक्षित वर्गों के कम योग्य अभ्यर्थियों की खोज करे। ऐसी योजना की परिकल्पना केवल अनुच्छेद 233 और 234 के अधीन उच्च न्यायालय से परामर्श करके बनाए गए प्रासंगिक नियमों के माध्यम से ही की जा सकती है; इसे किसी ऐसे विधायी आदेश का विषय नहीं बनाया जा सकता, जिसका पालन उच्च न्यायालय को विवश होकर करना पड़े और जो इस

संबंध में उच्च न्यायालय से पूर्ण एवं प्रभावी परामर्श की संवैधानिक योजना से परे हो। अतः यह घोषित किया जाना आवश्यक है कि आक्षेपित धारा 4, जैसा कि वर्तमान में विधि-पुस्तक में विद्यमान है, यदि जिला न्यायाधीशों के पदों तथा जिला न्यायालयों के अधीनस्थ न्यायपालिका के पदों पर भर्ती को नियंत्रित करने हेतु यथावत् लागू रहने दी जाए, तो वह प्रत्यक्ष रूप से अनुच्छेद 233 और 234 की उस संवैधानिक योजना से टकराएगी, जो एक पूर्ण विधिक संहिता का निर्माण करती है; इसलिए उसे उक्त संवैधानिक योजना के प्रतिकूल एवं *अधिकारातीत* माना जाना चाहिए।

इस बिंदु पर चर्चा समाप्त करने से पूर्व, हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि आक्षेपित निर्णय में, जो 1994 की सी.डब्ल्यू.जे.सी. संख्या 6756, 1994 में उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया था, माननीय न्यायाधीशों ने न्यायिक सेवा में आरक्षण अधिनियम से परे आरक्षण के प्रश्न पर निर्णय के कंडिका 16 से 21 में विचार किया है। इस न्यायालय की संविधान पीठ के निर्णय, सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड एसोसिएशन एवं अन्य बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. (1994) एस.सी. 268, पर भरोसा रखते हुए यह कहा गया है कि जब भी ऐसा प्रश्न उत्पन्न हो और राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके कोई आरक्षण योजना लागू करने का प्रयास किया जाए, तब उच्च न्यायालय की राय को प्रधानता प्राप्त होगी। हम यह उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं कि यह प्रश्न वर्तमान कार्यवाही में हमारे विचारार्थ वास्तव में उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अनुच्छेद 309 को अनुच्छेद 233 और 234 के साथ पढ़कर राज्यपाल द्वारा बनाए गए ऐसे आरक्षण नियमों की वैधता, जो उच्च न्यायालय की सहमति के विपरीत कोई आरक्षण योजना लागू करते हों, यहाँ निर्णय के लिए प्रस्तुत नहीं हुई है। वर्तमान कार्यवाही में हमारा संबंध केवल इस संक्षिप्त प्रश्न से है कि क्या उच्च न्यायालय को पूर्णतः दरकिनार करते हुए राज्य विधानमंडल ऐसा वैधानिक प्रावधान अधिनियमित कर सकता है, जो जिला न्यायाधीशों के संवर्ग तथा उनके अधीनस्थ न्यायाधीशों के संवर्ग से युक्त न्यायिक सेवा में आरक्षण योजना लागू करे।

अतः, हमारे विचार में, इस संबंध में उच्च न्यायालय द्वारा की गई उपर्युक्त टिप्पणियाँ वर्तमान मामले में आवश्यक नहीं थीं और हम उस विषय पर कोई मत व्यक्त नहीं करते।

अतः बिंदु संख्या 2 का उत्तर अपीलकर्ता-राज्य के विरुद्ध तथा उत्तरदाता के पक्ष में सकारात्मक रूप से दिया जाना होगा।

बिंदु संख्या 3 :

बिंदु संख्या 2 पर हमारे उत्तर के आलोक में अब यह प्रश्न विचारार्थ शेष रहता है कि आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 के संबंध में कौन-से उपयुक्त आदेश पारित किए जा सकते हैं। अब यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अधिनियम में अधिनियमित धारा 4 का राज्य की अन्य सेवाओं, जो राज्य की न्यायिक सेवा का भाग नहीं हैं, के संबंध में सामान्य प्रवर्तन और प्रभाव हो सकता है। ऐसी अन्य सेवाओं के संदर्भ में धारा 4 स्वतंत्र रूप से लागू हो सकती है और उस संबंध में उच्च न्यायालय से परामर्श की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु जहाँ तक यह राज्य की अधीनस्थ न्यायिक सेवा में भर्ती और नियुक्ति के क्षेत्र में, जैसा कि अनुच्छेद 233 और 234 द्वारा परिकल्पित है, अतिक्रमण करने का प्रयास करती है, वहाँ इसे सीमित अर्थ देकर इस प्रकार पढ़ा जा सकता है कि आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 जिला न्यायाधीशों के संवर्ग तथा जिला न्यायाधीशों के अधीनस्थ न्यायपालिका के संवर्ग में भर्ती और नियुक्तियों के विनियमन पर लागू नहीं होगी, और ऐसी नियुक्तियाँ पूर्णतः बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1951 तथा बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियम, 1955 द्वारा नियंत्रित होंगी। दूसरे शब्दों में, धारा 4 का इन नियमों पर कोई प्रभाव नहीं होगा और उस सीमा तक उसे सीमित अर्थ में पढ़ा हुआ माना जाएगा। एक बार ऐसा कर दिए जाने पर, उक्त प्रावधान को विधि-पुस्तक से निरस्त करने का प्रश्न शेष नहीं रहेगा और न ही उसकी आवश्यकता होगी। अतः, हम इसे उपर्युक्त प्रकार से सीमित अर्थ देकर लागू मानते हैं। बिंदु संख्या 3 का उत्तर भी उत्तरदाता के पक्ष में तथा अपीलकर्ता-राज्य के विरुद्ध दिया जाता है।

बिंदु संख्या 4 :

अब उपर्युक्त बिंदुओं पर हमारे उत्तरों के आलोक में उपयुक्त अंतिम आदेश पारित करने का चरण आ गया है। इन दोनों अपीलों में उच्च न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाओं को स्वीकार करते हुए दिए गए आक्षेपित निर्णय निम्नलिखित संशोधनों और निर्देशों के अधीन बनाए रखे जाते हैं:

1. यद्यपि आक्षेपित अधिनियम, जैसा कि अधिनियमित किया गया है, न्यायिक सेवा पर भी लागू माना गया है, तथापि उसकी धारा 4, विशेष रूप से आरक्षण की योजना निर्धारित करने वाली, जिला न्यायपालिका के संवर्ग तथा जिला न्यायाधीशों के अधीनस्थ न्यायपालिका के संवर्गों में भर्ती को नियंत्रित करने हेतु लागू नहीं होगी।

2. दीवानी अपील संख्या 9072, 1996 में उच्च न्यायालय द्वारा आक्षेपित निर्णय में की गई यह टिप्पणी कि यदि दो अभ्यर्थी — एक सामान्य वर्ग का तथा दूसरा आरक्षित वर्ग का — समान रूप से योग्य पाए जाएँ, तो आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थी को प्राथमिकता दी जा सकती है और यही संविधान द्वारा परिकल्पित एकमात्र युक्तिसंगत योजना है, अनावश्यक होने के कारण विधिक प्रभाव से रहित मानी जाएगी।

3. उपर्युक्त टिप्पणियों के बावजूद, उत्तरदाता उच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण कि अधिवक्ताओं की जिला न्यायाधीशों के रूप में प्रत्यक्ष भर्ती की अनुशंसा करते समय, सामान्य वर्ग के समान योग्यता वाले आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थी को दी जाने वाली सुझाई गई प्राथमिकता का पालन उच्च न्यायालय द्वारा किया जाना है, वर्तमान कार्यवाही में सहमत रूप से तब तक अनुसरण किया जाएगा जब तक कि आरक्षित वर्ग के अभ्यर्थियों हेतु कोई उपयुक्त आरक्षण योजना, यदि कोई हो, राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके उपयुक्त नियम बनाकर अधिसूचित न कर दी जाए; और तब तक उच्च न्यायालय को इसी प्रक्रिया का पालन करना होगा। एक बार जब उच्च न्यायालय के साथ समुचित संवाद के पश्चात संबंधित नियमों में संशोधन करके ऐसी योजना अधिसूचित कर दी जाएगी, तब

स्पष्टतः उच्च न्यायालय, अनुच्छेद 233(2) के अनुसार अधिवक्ता समुदाय से जिला न्यायाधीशों के पदों पर भर्ती की अनुशंसा करते समय, ऐसी आरक्षण योजना से बाध्य होगा।

4. बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियम, 1955 के अनुसार निम्नतम स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती को नियंत्रित करने हेतु अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों के लिए 14% तथा अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए 10% आरक्षण का पालन सभी संबंधित प्राधिकारियों द्वारा किया जाएगा और न्यायपालिका के निम्नतम स्तर पर नियुक्तियाँ उक्त आरक्षण योजना के अनुसार की जाएँगी, जब तक कि अनुच्छेद 234 को अनुच्छेद 309 के साथ पढ़कर परिकल्पित व्यवस्था के अनुसार राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से प्रभावी परामर्श करने के पश्चात संबंधित नियमों में संशोधन करके कोई अन्य आरक्षण योजना अधिसूचित न कर दी जाए।

5. विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) संख्या 16476, 1993 से उत्पन्न दीवानी अपील में 16.11.1995 को पारित अंतरिम आदेश द्वारा निम्नलिखित निर्देश दिया गया था :

> "विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अधिवक्ताओं को सुनने के पश्चात हम 13.5.1994 के आदेश में संशोधन करते हैं, जिसमें यह कहा गया था कि चयन प्रक्रिया जारी रह सकती है, किन्तु वास्तविक नियुक्ति आदेश जारी नहीं किए जाएँ। यदि चयन प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी है, तो चयनित अभ्यर्थियों को इस याचिका के अंतिम परिणाम के अधीन नियुक्त किया जा सकता है तथा इस शर्त के अधीन भी कि यदि आरक्षण को वैध ठहराया जाता है और आरक्षित रिक्तियों को भरने हेतु अभ्यर्थियों का चयन भविष्य में किसी भी समय किया जाता है और वे नियुक्ति के अधिकारी बनते हैं, तो वरिष्ठता में आवश्यक समायोजन किया जा सकेगा।किन्तु आरक्षित पदों को भरने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होगा और वे पद लंबित रखे जाएँगे। परंतु यदि इस न्यायालय द्वारा वर्तमान मामले में आरक्षण के प्रश्न का निर्णय किए जाने के पश्चात भी चयन

किए जाते हैं और नियुक्तियाँ की जाती हैं, तो ऐसे अभ्यर्थी सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों की नियुक्ति की तिथि पर उपलब्ध स्थानों के अनुसार अपनी-अपनी वरिष्ठता के अधिकारी होंगे।"

इस अपील में, 1955 के नियमों के अनुसार अधीनस्थ न्यायाधीशों तथा मुंसिफों के पदों पर अभ्यर्थियों की नियुक्तियों पर विचार किया जा रहा है। मूल विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाकर्ताओं द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष दायर विनिर्दिष्ट आदेश याचिका आंशिक रूप से स्वीकार की जाएगी, यह घोषित करते हुए कि आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 इन भर्तियों पर लागू नहीं होती तथा ऐसी भर्तियों पर केवल अनुसूचित जातियों हेतु 14% और अनुसूचित जनजातियों हेतु 10% आरक्षण की योजना ही लागू होगी। फलस्वरूप, इस मामले में आरक्षित पदों को भरने का प्रश्न, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों हेतु अनुमेय 24% आरक्षण की उपर्युक्त सीमा तक ही प्रासंगिक रहेगा। संबंधित प्राधिकारी, बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियम, 1955 द्वारा शासित इन पदों पर नियुक्ति के लिए चयनित अभ्यर्थियों के अधिकारों का निर्धारण, इस न्यायालय के 16.11.1995 के अंतरिम आदेश में निहित निर्देशों को ध्यान में रखते हुए, तदनुसार करेंगे।

6. उपर्युक्त संशोधनों और निर्देशों के अधीन, ये दोनों अपीलें तदनुसार निरस्त की जाती हैं। इन दोनों अपीलों में व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं दिया जाएगा।

पट्टनायक, न्यायमूर्ति : मैंने माननीय न्यायमूर्ति मजमूदार तथा माननीय न्यायमूर्ति सेठी के दोनों निर्णयों का अवलोकन किया है, जिनमें विचाराधीन प्रश्न पर भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए गए हैं। मैं पूर्णतः माननीय न्यायमूर्ति मजमूदार द्वारा निकाले गए निष्कर्षों से सहमत हूँ तथा माननीय न्यायमूर्ति सेठी द्वारा व्यक्त विचारों से आदरपूर्वक असहमति व्यक्त करता हूँ। किन्तु प्रश्न के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए, मैं अपने कुछ स्वतंत्र अनुच्छेद जोड़ना उचित समझता हूँ।

विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या राज्य विधानमंडल संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्य की न्यायिक सेवा से संबंधित अधिकारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों के निर्धारण के संबंध में कोई विधि अधिनियमित कर सकता है? इसी संदर्भ में आगे यह प्रश्न भी विचारार्थ उत्पन्न होता है कि बिहार रिक्तियों एवं सेवाओं में आरक्षण अधिनियम (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों हेतु), 1991 (जिसे आगे "अधिनियम" कहा गया है) (बिहार अधिनियम 3, 1992), जिसे बिहार अधिनियम 11, 1993 द्वारा संशोधित किया गया, की धारा 4 में निर्दिष्ट सीमा तक आरक्षण प्रदान करने वाले उपबंध, क्या अधिनियम की धारा 2(एम) में "राज्य" की परिभाषा के आलोक में राज्य की न्यायिक सेवाओं पर लागू होंगे? इन प्रश्नों 209-ए से 209-एफ तक समाहित किया गया था, तब डॉ. भीमराव आंबेडकर ने संविधान सभा में अपने भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था : "इन उपबंधों का उद्देश्य द्विविध है : प्रथम, जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति और उनकी योग्यताओं के संबंध में प्रावधान करना। द्वितीय उद्देश्य सम्पूर्ण दीवानी न्यायपालिका को उच्च न्यायालय के नियंत्रण के अधीन रखना है। अनुच्छेद 209-ए, 209-बी और 209-सी में निहित सामान्य उपबंधों से केवल दण्डाधिकारी वर्ग को अपवादस्वरूप अलग रखा गया है, जिसका प्रावधान अनुच्छेद 209-ई में किया गया है। प्रारूप समिति को अत्यन्त प्रसन्नता होती यदि वह सदन को यह अनुशंसा करने की स्थिति में होती कि संविधान के प्रारम्भ होते ही दीवानी न्यायपालिका की नियुक्ति तथा उस पर उच्च न्यायालय के नियंत्रण से संबंधित उपबंध दण्डाधिकारी वर्ग पर भी लागू कर दिए जाएँ। किन्तु यह अनुभव किया गया है, और यह स्वीकार किया जाना चाहिए, कि दण्डाधिकारी वर्ग सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। हमें आशा है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के संबंध में जिन प्रस्तावों पर वर्तमान में कुछ प्रांतों द्वारा विचार किया जा रहा है, उन्हें अन्य प्रांत भी स्वीकार करेंगे, ताकि अनुच्छेद 209-ई के उपबंध दण्डाधिकारियों पर भी उसी प्रकार लागू किए जा सकें, जिस प्रकार हम उन्हें

दीवानी न्यायपालिका पर लागू करने का प्रस्ताव रखते हैं। यह अनुभव किया गया है कि सर्वोत्तम उपाय यही है कि इस विषय को राज्यपाल पर छोड़ दिया जाए, ताकि जैसे ही किसी प्रांत में न्यायपालिका और कार्यपालिका के पृथक्करण के लिए आवश्यक परिवर्तन लागू किए जाएँ, वह लोक अधिसूचना द्वारा ऐसा कर सके।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान-निर्माता राज्य की न्यायिक शाखा को अन्य शाखाओं से पृथक और सुरक्षित रखने के प्रति कितने चिंतित थे। जब पंडित हृदयनाथ कुंजरू ने प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 209-ए में कुछ संशोधन प्रस्तुत किए, तब उन्होंने यह इंगित किया था कि उन संशोधनों का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि यद्यपि राज्यपाल उच्च न्यायालय से परामर्श करके जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति करेगा, तथापि एक बार ऐसी नियुक्ति हो जाने के पश्चात जिला न्यायाधीश उच्च न्यायालय के नियंत्रण में रहेगा। उस समय संविधान सभा के अन्य सदस्यों की प्रतिक्रियाओं में विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लगभग सभी सदस्यों ने इस आवश्यकता को अनुभव किया था कि जहाँ तक संभव हो, राज्य की न्यायिक शाखा के लिए पृथक उपबंध किए जाएँ और सम्पूर्ण नियंत्रण राज्य के उच्च न्यायालय में निहित किया जाए। वास्तव में, डॉ. आंबेडकर ने स्वयं यह इंगित किया था कि राज्यों के अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित संविधान के उपबंधों में कोई क्रांतिकारी बात नहीं है और वस्तुतः ऐसे उपबंध भारत शासन अधिनियम, 1935 में भी विद्यमान थे। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यदि हम संवैधानिक योजना का अवलोकन करें, तो पाते हैं कि भाग 14, जिसमें अनुच्छेद 308 से 323 सम्मिलित हैं, संघ तथा राज्यों की सेवाओं से संबंधित है, जबकि अध्याय 6, जिसमें अनुच्छेद 233 से 237 सम्मिलित हैं, अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित है। अनुच्छेद 233 के अधीन किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापन तथा पदोन्नति की शक्ति उस राज्य के राज्यपाल को उस राज्य पर अधिकार-क्षेत्र रखने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके प्रदान की गई है। यह स्पष्टतः उन अधिकारियों से संबंधित है जिन्हें अधीनस्थ न्यायाधीश के पद से उच्चतर न्यायिक सेवा में जिला न्यायाधीश के पद पर पदोन्नत किया

जाना है। संविधान के अनुच्छेद 233 के उप-अनुच्छेद (2) में किसी व्यक्ति की जिला न्यायाधीश के रूप में प्रत्यक्ष नियुक्ति हेतु संबंधित उच्च न्यायालय की अनुशंसा का प्रावधान किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 234 जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की राज्य की न्यायिक सेवा में भर्ती का प्रावधान करता है और ऐसी भर्ती राज्यपाल द्वारा उस संबंध में उसके द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार, राज्य लोक सेवा आयोग तथा उस राज्य पर अधिकार-क्षेत्र रखने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात की जानी है। अनुच्छेद 235 अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण से संबंधित है और इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं है कि जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित है, और ऐसा नियंत्रण वास्तविक तथा प्रभावकारी होना चाहिए तथा उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अध्याय 6 की संवैधानिक योजना में संविधान-निर्माताओं ने भर्ती के प्रश्न से संबंधित उपबंध किए हैं, न कि सेवा की अन्य शर्तों, जैसे सेवानिवृत्ति की आयु, वेतन, पेंशन, भत्ते आदि से संबंधित। जहाँ अनुच्छेद 309 संघ अथवा राज्य की सेवा में कार्यरत व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों से संबंधित है, वहीं न्यायिक शाखा से संबंधित एक विशिष्ट श्रेणी के पदों को भर्ती के प्रश्न के संदर्भ में अध्याय 6 के अनुच्छेद 233 से 235 में पृथक रूप से विन्यस्त किया गया है। जब अनुच्छेद 309 स्वयं "इस संविधान के उपबंधों के अधीन" शब्दों का प्रयोग करता है, तो उसका अनिवार्य अर्थ यह है कि यदि संविधान में कोई अन्य उपबंध विशेष रूप से अनुच्छेद 309 में उल्लिखित विषयों से संबंधित है, तो अनुच्छेद 309 उन संवैधानिक उपबंधों के अधीन होगा।

दूसरे शब्दों में, जहाँ तक राज्य की न्यायिक सेवाओं में भर्ती का संबंध है, चूँकि उसका विशेष प्रावधान अध्याय 6 के अनुच्छेद 233 से 237 में किया गया है, इसलिए संविधान के वही उपबंध, संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन उपयुक्त विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी भी विधि पर प्रधानता रखेंगे। निस्संदेह राज्य विधानमंडल न्यायिक शाखा से संबंधित

अधिकारियों की सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु विधि बना सकता है, किन्तु वह न्यायिक सेवाओं में भर्ती से संबंधित विधि नहीं बना सकता, क्योंकि न्यायिक सेवा में भर्ती का क्षेत्र स्वयं संविधान में अध्याय 6 के अनुच्छेद 233 से 236 के अधीन पृथक रूप से विन्यस्त किया गया है।

इस चरण पर यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि जहाँ संविधान ने स्वयं अनुच्छेद 145(1), 148(5), 187(3), 229(2), 283(1) और (2) में उपबंधों को संसद द्वारा बनाई गई विधि के अधीन रखा है, वहीं अनुच्छेद 234 को उपयुक्त विधानमंडल द्वारा बनाई जाने वाली किसी विधि के अधीन नहीं रखा गया है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि जहाँ तक न्यायिक सेवा में भर्ती का प्रश्न है, जिसका प्रावधान अनुच्छेद 234 में किया गया है, वह सर्वोपरि है और अनुच्छेद 309 के अधीन विधि बनाने की विधानमंडल की शक्ति भर्ती से संबंधित विधि बनाने तक विस्तृत नहीं होगी, यद्यपि ऐसे न्यायिक अधिकारियों की अन्य सेवा-शर्तों के संबंध में उपयुक्त विधानमंडल विधि बना सकता है। वास्तव में, *बी. एस. यादव* के मामले [1981] 1 एस.सी.आर. 1024 में, जिस पर बिहार राज्य की ओर से उपस्थित डॉ. धवन ने अत्यधिक निर्भरता व्यक्त की, तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश चंद्रचूड़ ने यह टिप्पणी की थी : "जब भी किसी प्राधिकारी को कोई विशेष उपबंध अथवा नियम बनाने की शक्ति प्रदान करने का आशय किया गया है, जिसमें सेवा-शर्तों से संबंधित नियम भी सम्मिलित हैं, संविधान ने उसे स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है।" उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 15(4), 16(4), 77(3), 87(2), 118, 145(1), 146(1) एवं (2), 148(5), 166(3), 176(2), 187(3), 208, 225, 227(2) एवं (3) तथा 229(1) एवं (2), 234, 237 तथा 283(1) एवं (2)।" यह अवलोकन इस प्रश्न के संदर्भ में किया गया है कि क्या अनुच्छेद 235 उच्च न्यायालय को जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों से सम्बद्ध न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों के संबंध में नियम बनाने की कोई शक्ति प्रदान करता है। इस तथ्य मात्र से कि संविधान-निर्माताओं ने अनुच्छेद 234 का उपबंध करते समय इसे उपयुक्त विधानमंडल द्वारा

बनाए गए किसी भी अधिनियम के अधीन नहीं रखा है, यह संविधान निर्माताओं का सबसे स्पष्ट संकेत है कि जहाँ तक राज्य की न्यायिक सेवा में भर्ती का प्रश्न है, राज्य विधानमंडल के पास विधि बनाने की आवश्यक शक्ति नहीं है। पुनरावृत्ति की कीमत पर यह कहा जा सकता है कि "भर्ती" और "सेवा की अन्य शर्तें" सेवा विधिशास्त्र में दो भिन्न अवधारणाएँ हैं, और संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 234 तथा 309 को समाविष्ट करते समय इस बात को ध्यान में रखा है। यह सत्य है कि जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित अनुच्छेद 233 में नियुक्ति हेतु नियम बनाने की शक्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किंतु अनुच्छेद 233 की भाषा यह संकेत देती है कि जिला न्यायाधीश के पद पर भर्ती का समस्त विषय—चाहे वह प्रत्यक्ष भर्ती हो या पदोन्नति द्वारा—उच्च न्यायालय के पास छोड़ा गया है, और राज्य का राज्यपाल उच्च न्यायालय से परामर्श करके ऐसी नियुक्ति करने के लिए अपेक्षित है। जहाँ तक प्रत्यक्ष भर्ती का प्रश्न है, अनुच्छेद 233 के उप-अनुच्छेद (2) में संविधान ने स्वयं ऐसे मानदंड निर्धारित किए हैं जिनके आधार पर कोई व्यक्ति जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति/भर्ती के लिए पात्र होगा। भर्ती का संपूर्ण क्षेत्र दोनों संवैधानिक परामर्शदाताओं के पास छोड़ा गया है, और स्पष्ट रूप से ऐसे मामलों में उच्च न्यायालय की राय बाध्यकारी प्रभाव वाली होनी चाहिए। जिला न्यायाधीशों के पद पर प्रत्यक्ष भर्ती हेतु अनुच्छेद 233 के उप-अनुच्छेद (2) में संविधान ने स्वयं पात्रता मानदंड तथा भर्ती के स्रोत का संकेत दिया है, जबकि अंतिम चयन की प्रक्रिया को स्वयं उच्च न्यायालय पर छोड़ दिया गया है। इस संदर्भ में डॉ. राजीव धवन का यह तर्क कि यह असंगत होगा कि जहाँ अधीनस्थ न्यायपालिका के लिए विधायिका के पास भर्ती संबंधी विधि बनाने की शक्ति नहीं है, वहीं जिला न्यायाधीशों के लिए ऐसी शक्ति मौजूद हो, यह निराधार है। क्योंकि अनुच्छेद 233 के अंतर्गत, चाहे खंड (1) हो या खंड (2), नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जानी है, परंतु यह निर्णय कि किसे नियुक्त किया जाएगा, उच्च न्यायालय के पास है, और यह व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 235 के अंतर्निहित सिद्धांतों के अनुरूप है। अनुच्छेद 235 के दूसरे भाग के संदर्भ में, डॉ. धवन ने यह

तर्क भी उठाया था कि यह यह पूर्व-कल्पना करता है कि विधायिका के पास विधि बनाने की शक्ति है, जिसके द्वारा राज्य की न्यायपालिका के किसी अधिकारी को अपील का अधिकार प्रदान किया जा सके, यद्यपि जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित है। किन्तु यह तर्क इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखता कि दो अवधारणाओं, अर्थात् "भर्ती" और "सेवा की शर्तें", के बीच एक भेद है। अनुच्छेद 235 का दूसरा भाग, जो किसी अधिकारी को विधायिका या राज्यपाल द्वारा बनाए गए किसी विधि के अंतर्गत उपलब्ध अपील के अधिकार की रक्षा करता है, सेवा की शर्तों के विनियमन से संबंधित है और उस अधिकारी की भर्ती से संबंधित नहीं है। डॉ. धवन द्वारा यह एक चतुर तर्क भी प्रस्तुत किया गया था कि अनुच्छेद 234 में स्पष्ट रूप से यह शब्दावली प्रयुक्त है कि "नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय तथा राज्य लोक सेवा आयोग से परामर्श करके बनाए गए नियमों के अनुसार की जाएगी", जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह अनुच्छेद 309 के परंतुक से संबद्ध है और इस प्रकार मुख्य अनुच्छेद 309 के अंतर्गत विधायिका की व्यापक शक्ति किसी भी प्रकार से सीमित नहीं होती। किन्तु यह तर्क इस तथ्य की अनदेखी करता है कि अनुच्छेद 309 के मुख्य भाग के अंतर्गत विधायिका द्वारा बनाई गई विधि तथा परंतुक के अंतर्गत राज्यपाल द्वारा बनाई गई विधि समान स्तर पर स्थित हैं। इस चरण पर, यह उल्लेख करना उचित होगा कि अपीलकर्ताओं में से एक में बिहार राज्य की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता श्री द्विवेदी द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि राज्य विधानमंडल द्वारा सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान भर्ती या नियुक्ति से पूर्व का एक चरण है, और इसलिए अनुच्छेद 234 के अंतर्गत भर्ती की शक्ति किसी प्रकार से बाधित नहीं होती। किन्तु यह तर्क अधिनियम की धारा 4 की भाषा को देखते हुए सूक्ष्म परीक्षण पर टिक नहीं पाता।

> 4. *प्रत्यक्ष भर्ती के लिए आरक्षण-* किसी प्रतिष्ठान में सेवाओं और पदों पर सभी नियुक्तियां जिन्हें प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरा जाना है, उन्हें निम्नलिखित तरीके से विनियमित किया जाएगा, अर्थात्:-

(1) उपलब्ध रिक्तियों को निम्न प्रकार से भरा जाएगा—

(क) खुली मेविनिर्दिष्ट आदेश श्रेणी से — 50%

(ख) आरक्षित श्रेणी से — 50%

(2) आरक्षित श्रेणी के 50% के अंतर्गत विभिन्न आरक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों हेतु रिक्तियाँ, इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, निम्नानुसार होंगी—

(क) अनुसूचित जाति — 14%

(ख) अनुसूचित जनजाति — 10%

(ग) अत्यंत पिछड़ा वर्ग — 12%

(घ) पिछड़ा वर्ग — 8%

(ङ) आर्थिक रूप से पिछड़ी महिला — 3%

(च) आर्थिक रूप से पिछड़ा — 3%

कुल — 50%

परंतु यह कि राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, विभिन्न जिलों में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार विभिन्न जिलों के लिए भिन्न-भिन्न प्रतिशत निर्धारित कर सकेगी:

परंतु यह और कि पदोन्नति के मामले में आरक्षण केवल अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए उसी अनुपात में किया जाएगा जैसा कि इस धारा में उपबंधित है।

(3) आरक्षित वर्ग का कोई अभ्यर्थी, जो अपनी योग्यता के आधार पर चयनित होता है, उसे खुली मेविनिर्दिष्ट आदेश श्रेणी की 50% रिक्तियों के विरुद्ध गिना जाएगा, न कि आरक्षित श्रेणी की रिक्तियों के विरुद्ध।

(4) इस अधिनियम में या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या नियम में, अथवा किसी न्यायालय के किसी निर्णय या डिक्री में इसके विपरीत किसी बात के होते हुए भी, उपधारा (3) के उपबंध उन सभी मामलों में लागू होंगे जिनमें चयन की सभी औपचारिकताएँ 1 नवम्बर, 1990 से पूर्व पूर्ण हो चुकी थीं, किन्तु नियुक्ति-पत्र जारी नहीं किए गए थे।

(5) अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियाँ, उन वर्गों से संबंधित न होने वाले अभ्यर्थियों द्वारा नहीं भरी जाएँगी, सिवाय इसके कि इस अधिनियम में अन्यथा उपबंधित हो।

(6) (क) अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित रिक्तियों पर नियुक्ति और पदोन्नति हेतु उपयुक्त अभ्यर्थियों के उपलब्ध न होने की स्थिति में, वे रिक्तियाँ तीन भर्ती वर्षों तक आरक्षित बनी रहेंगी और यदि तीसरे वर्ष में भी उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध नहीं होते हैं, तो उन रिक्तियों का अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बीच अदला-बदली की जाएगी, और इस प्रकार अदला-बदली द्वारा भरी गई रिक्तियाँ उस विशेष समुदाय के अभ्यर्थियों के लिए आरक्षित मानी जाएँगी जिन्हें वास्तव में नियुक्त किया गया है।

(ख) अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग से उपयुक्त अभ्यर्थियों के उपलब्ध न होने की स्थिति में, उनके लिए आरक्षित रिक्तियाँ तीन भर्ती वर्षों तक उनके लिए आरक्षित बनी रहेंगी और यदि तीसरे वर्ष में भी

उपयुक्त अभ्यर्थी उपलब्ध नहीं होते हैं, तो उन रिक्तियों को अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों के मध्य अदला-बदली द्वारा भरा जाएगा, और इस प्रकार अदला-बदली द्वारा भरी गई रिक्तियाँ उस विशेष समुदाय के अभ्यर्थियों के लिए आरक्षित मानी जाएँगी जिन्हें वास्तव में नियुक्त किया गया है।

(ग) आर्थिक रूप से पिछड़ी महिलाओं के लिए आरक्षित रिक्तियों हेतु उपयुक्त अभ्यर्थियों के उपलब्ध न होने की स्थिति में, उन रिक्तियों को पहले अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों द्वारा, तत्पश्चात अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों द्वारा, उसके बाद अत्यंत पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों द्वारा और फिर पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों द्वारा भरा जाएगा। इस प्रकार की प्रक्रिया में भरी गई रिक्तियाँ उस विशेष समुदाय के अभ्यर्थियों के लिए आरक्षित मानी जाएँगी जिन्हें वास्तव में नियुक्त किया गया है।

(घ) यदि किसी भर्ती वर्ष में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों, अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग के अभ्यर्थियों की संख्या, अदला- बदली के प्रावधान के बाद भी, उनके लिए आरक्षित रिक्तियों की संख्या से कम रह जाती है, तो शेष बैकलॉग रिक्तियाँ उन्हें अनारक्षित करने के पश्चात सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों द्वारा भरी जा सकती हैं, किन्तु इस प्रकार अनारक्षित की गई रिक्तियाँ तीन भर्ती वर्षों तक आगे के लिए वहन की जाएँगी।

(ङ) यदि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अत्यंत पिछड़ा और पिछड़ा वर्ग के अपेक्षित संख्या में अभ्यर्थी आरक्षित रिक्तियों को भरने हेतु उपलब्ध नहीं होते हैं, तो केवल बैकलॉग रिक्तियों को भरने के लिए, यथास्थिति, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों

तथा अत्यंत पिछड़ा और पिछड़ा वर्ग के सदस्यों से संबंधित अभ्यर्थियों हेतु पुनः विज्ञापन जारी किया जा सकता है।

उपरोक्त उद्धृत धारा 4 में प्रयुक्त शब्दों का साधारण एवं व्याकरणिक अर्थ स्पष्ट और निर्विवाद रूप से यह दर्शाता है कि यह भर्ती/नियुक्ति से संबंधित एक विधि है और इसलिए, एक बार यह मान लिया जाए कि न्यायिक सेवाओं के संबंध में भर्ती की शक्ति अनुच्छेद 234 में उपबंधित है, तब राज्य विधानमंडल अनुच्छेद 16(4) के अनुरूप विधि बनाने के बहाने अनुच्छेद 234 के क्षेत्र में अतिक्रमण नहीं कर सकता। सुनवाई के दौरान यह विस्तृत तर्क प्रस्तुत किया गया था कि आरक्षण का उद्देश्य अनुच्छेद 16(1) को अनुच्छेद 16(4) के साथ पढ़े जाने पर समानता के अधिकार को पूरा करना है, और यह प्रश्न कि किसी विशेष पिछड़े वर्ग के नागरिकों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हुआ है या नहीं, अनुच्छेद 16(4) में राज्य सरकार की संतुष्टि पर छोड़ दिया गया है, और इसलिए राज्य विधानमंडल को उक्त संवैधानिक आदेश को पूरा करने हेतु ऐसी विधि बनाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। हम वास्तव में यह समझने में असफल हैं कि विधायिका यह क्यों महसूस करेगी कि जब राज्यपाल अनुच्छेद 234 के अंतर्गत उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करके नियम बनाएगा, तब वह अनुच्छेद 16(1) अथवा अनुच्छेद 16(4) में निहित संवैधानिक आदेश को ध्यान में नहीं रखेगा। वास्तव में, वर्तमान मामले में बिहार न्यायिक सेवा भर्ती नियमावली, 1955 में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया है और पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने भी राज्य सरकार की अधिसूचना के अनुसार इन अभ्यर्थियों के लिए आरक्षण का प्रतिशत अपनाया है। जहाँ तक उच्च न्यायिक सेवा का संबंध है, यह निस्संदेह सत्य है कि वहाँ आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। किन्तु ऐसा प्रावधान राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके सदैव किया जा सकता है, और ऐसा करते समय अनुच्छेद 335 के आदेश अर्थात् "प्रशासनिक दक्षता का संरक्षण" को भी ध्यान में रखा जा सकता है। यह वास्तव में

पीड़ादायक है कि कभी-कभी विधि-निर्माता अनावश्यक रूप से यह महसूस करते हैं कि उच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय का गठन करने वाले न्यायाधीश अनुच्छेद 16 के अधीन निहित संवैधानिक आदेश, और विशेष रूप से अनुच्छेद 16(4), से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। यह सोचना भी उचित नहीं है कि उच्च न्यायालय राज्य की न्यायिक सेवाओं में भर्ती के मामलों पर विचार करते समय अनुच्छेद 16(1) तथा 16(4) के प्रावधानों को ध्यान में नहीं रखेगा। न्यायपालिका संविधान के तीन अंगों में से एक है और जिन्हें न्याय प्रशासन के कार्यों का दायित्व सौंपा गया है, उनसे यह अनुमान किया जाना चाहिए कि उन्हें संवैधानिक आवश्यकताओं को समझने में अधिक विशेषज्ञता प्राप्त है। उपरोक्त दृष्टिकोण में, बिहार राज्य की ओर से उपस्थित श्री द्विवेदी का तर्क निराधार है।

उपरोक्त परिस्थितियों में, मेरी सुविचारित राय में, बिहार रिक्तियों एवं सेवाओं में आरक्षण अधिनियम, 1991 (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए) का बिहार राज्य में न्यायिक अधिकारियों की भर्ती पर कोई अनुप्रयोग नहीं है।

बनर्जी, न्यायमूर्ति — मुझे मेरे माननीय भाई मजमूदार तथा माननीय भाई सेठी के निर्णयों का अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिन्होंने हमारे समक्ष प्रस्तुत अपीलों में उठाए गए प्रश्नों के संबंध में दो भिन्न एवं परस्पर विपरीत दृष्टिकोण व्यक्त किए हैं। मुझे माननीय भाई पटनायक के निर्णय का भी अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने माननीय भाई मजमूदार से सहमति व्यक्त की है तथा माननीय भाई सेठी द्वारा व्यक्त विचारों से भिन्न मत प्रकट किया है। मैं भी माननीय भाई मजमूदार द्वारा व्यक्त विचारों से अपनी सहमति अभिलिखित करता हूँ, किन्तु आक्षेपित विषय पर अपनी राय व्यक्त करते हुए, माननीय भाई मजमूदार तथा माननीय भाई पटनायक द्वारा जिन बिंदुओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है, उन पर और विस्तार किए बिना मैं कुछ पंक्तियाँ और जोड़ना चाहता हूँ।

बिहार रिक्तियों एवं सेवाओं में आरक्षण अधिनियम, 1991 (अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए), जिसे बिहार अधिनियम 11, 1993

द्वारा संशोधित किया गया, विशेष रूप से उसकी धारा 4, विवाद का विषय है। धारा 4 की सटीक भाषा का उल्लेख माननीय भाई मजमूदार तथा माननीय भाई पटनायक दोनों द्वारा अपने-अपने निर्णयों में पहले ही किया जा चुका है और इसलिए निर्णय की अनावश्यक लंबाई से बचने हेतु मैं उसे पुनः उद्धृत करने से स्वयं को विरत रखता हूँ। तथापि, यह अभिलिखित करना आवश्यक है कि 1991 के अधिनियम की धारा 4 प्रत्यक्ष भर्ती के क्षेत्र में आरक्षण का प्रावधान करती है, जिसमें 50% खुली मेविनिर्दिष्ट आदेश श्रेणी तथा 50% आरक्षित श्रेणी से भर्ती का उपबंध है, और न्यायपालिका को धारा 4 के दायरे में सम्मिलित करने का राज्य विधानमंडल का प्रयास उच्च न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप यह अपील इस न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुई है। मूल प्रश्न, जिसका उत्तर अपेक्षित है, यह है कि क्या न्यायिक सेवा अनुच्छेद 309 के दायरे में आती है ताकि राज्य विधानमंडल को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त हो सके। इसी संदर्भ में अनुच्छेद 309 का शीर्षक कुछ सहायता प्रदान करता है, जो इस प्रकार है— "संघ अथवा राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की भर्ती और सेवा की शर्तें"। अतः अनुच्छेद 309 केवल व्यक्तियों की भर्ती और सेवा की शर्तों तक सीमित है। किसी भी स्थिति में, हमारे संविधान निर्माताओं ने अत्यंत सावधानी और सतर्कता के साथ इस अनुच्छेद को सम्मिलित किया, किन्तु इसे संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रखा। अनुच्छेद के प्रारंभिक शब्दों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है, क्योंकि यदि अनुच्छेद के परंतुक द्वारा प्रदत्त नियम बनाने की शक्ति के अंतर्गत बनाया गया कोई नियम संविधान के किसी उपबंध का उल्लंघन करता है, तो वह नियम शून्य माना जाएगा। इसका कारण संविधान निर्माताओं द्वारा प्रयुक्त स्पष्ट शब्द "संविधान के उपबंधों के अधीन" हैं, तथा इस विषय में विशिष्ट उपबंध का अस्तित्व भी है। यह विधायिका को भर्ती तथा सेवा की शर्तों से संबंधित विधि बनाने का प्राधिकार प्रदान करता है, बशर्ते कि उस विषय में कोई विशिष्ट संवैधानिक उपबंध विद्यमान न हो। यहाँ यह उल्लेख करना अनावश्यक नहीं होगा कि अनुच्छेद 309 संविधान के भाग XIV के अंतर्गत "संघ और राज्यों के अधीन सेवाएँ" शीर्षक

के अधीन आता है, और इसी आधार पर अपील के समर्थन में उपस्थित डॉ. धवन ने तर्क दिया कि चूँकि न्यायपालिका राज्य का एक अंग है, इसलिए उसे अनुच्छेद 309 के दायरे से बाहर करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु संवैधानिक योजना डॉ. धवन के इस तर्क के प्रत्यक्ष रूप से विपरीत है। अनुच्छेद 233 से 237 संविधान के अध्याय VI के अंतर्गत आते हैं, जिसका शीर्षक "अधीनस्थ न्यायालय" है। इस संदर्भ में अनुच्छेद 233, 233ए, 234 तथा 235 के शीर्षकों का विशेष प्रभाव और महत्व है, और इसलिए उन्हें नीचे उद्धृत किया जा रहा है:

> "233. जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति।"
>
> "233ए. कुछ जिला न्यायाधीशों की नियुक्तियों तथा उनके द्वारा दिए गए निर्णयों आदि का विधिमान्यकरण।"
>
> "234. जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्तियों की न्यायिक सेवा में भर्ती।"
>
> "235. अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण।"

यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ संविधान का अध्याय V राज्य के उच्च न्यायालय से संबंधित है, वहीं ऊपर उल्लिखित अध्याय VI अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित है; अतः संविधान की योजना स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करती है कि न्यायपालिका अपने आप में एक विशिष्ट वर्ग है, जो लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का एक स्वतंत्र तृतीय अंग है। यद्यपि जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति संविधान के अनुच्छेद 233 के अनुसार राज्यपाल को प्रदान की गई है, तथापि "उस राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श" शब्दों को इस उद्देश्य से सम्मिलित किया गया है कि उच्चतर न्यायिक सेवा में अधीनस्थ न्यायाधीश के पद से पदोन्नत किए जाने वाले अधिकारियों की दक्षता के संबंध में कोई विवाद उत्पन्न न हो। प्रत्यक्ष भर्ती से नियुक्त होने वाले जिला न्यायाधीश के संबंध में, नियुक्ति हेतु उच्च न्यायालय की अनुशंसाओं के आधार पर उप-अनुच्छेद (2) का समावेशन वास्तव में इस विषय में परामर्श की पद्धति से संबंधित किसी भी विवाद को, यदि कोई हो,

समाप्त कर देता है। अनुच्छेद 234 तथा 235 का आगे किया गया समावेशन, और उनका साधारण पठन, इस बात के संबंध में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं छोड़ता कि न्यायिक अधिकारियों का एक पृथक वर्गीकरण है, जो स्वयं तक सीमित है, तथा उनकी नियुक्ति अनुच्छेद 309 से स्वतंत्र रूप से की जाती है।

वास्तव में संविधान में अध्याय VI का समावेशन, संविधान निर्माताओं की उस स्पष्ट मंशा को अभिलिखित करता है जो न्यायपालिका की सर्वोच्चता तथा उसकी विधायिका और कार्यपालिका से पृथकता के संबंध में थी। यदि अनुच्छेद 309 को एक सामान्य उपबंध माना जाए, तो अनुच्छेद 233 से 235 को न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के लिए विशिष्ट उपबंध माना जाना चाहिए, और इसी कारण से विधि-निर्माण का विशिष्ट क्षेत्र पूर्ण हो जाता है। स्पष्टतः संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 233 से 235 का प्रावधान करने के उपरांत ही अनुच्छेद 309 में "इस संविधान के उपबंधों के अधीन" शब्दों को सम्मिलित किया। वास्तव में, अपील के समर्थन में प्रस्तुत तर्क आगे की समीक्षा में इसलिए भी टिक नहीं पाता क्योंकि यदि संविधान निर्माताओं की कोई विपरीत मंशा होती, तो उसका उल्लेख स्वयं अनुच्छेद 234 में ही किया गया होता। मेरे विचार में, बिना किसी संकोच के, जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति दो संवैधानिक पदाधिकारियों, अर्थात् राज्यपाल और उच्च न्यायालय, में निहित है, और इस प्रकार यह विषय अनुच्छेद 309 के अंतर्गत प्रदत्त सामान्य शक्ति के क्षेत्राधिकार से बाहर हो जाता है।

उपरोक्त के आलोक में, न्यायिक सेवा को नियुक्ति के संबंध में अनुच्छेद 309 के अधीन आच्छादित नहीं माना जा सकता; यद्यपि सेवा की अन्य शर्तें विशेष रूप से खुली छोड़ी गई हैं, और इस प्रकार नियुक्ति के पश्चात सेवा की शर्तों तथा उनसे संबंधित अन्य आनुषंगिक विषयों के संबंध में अनुच्छेद 309 के अंतर्गत विधि निर्माण का प्राधिकार उपलब्ध है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 245 के अंतर्गत संसद तथा राज्य विधानमंडल की सामान्य

विधायी शक्तियाँ स्पष्ट रूप से संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन बनाई गई हैं, जिनमें स्पष्टतः अनुच्छेद 233 से 235 भी सम्मिलित होंगे।

मामले का दूसरा पक्ष अनुच्छेद 16(4) के संबंध में है, जिसके विषय में अपील संख्या 9072/96 में अपील के समर्थन में उपस्थित श्री द्विवेदी ने यह तर्क दिया कि आरक्षण अध्याय VI के दायरे से बाहर है और चूँकि अनुच्छेद 16(4) को संविधान की एक मूल विशेषता माना जा सकता है, इसलिए जिला न्यायाधीशों के पदों पर नियुक्तियाँ भी उसी के अधीन होनी चाहिए और उससे पृथक नहीं हो सकतीं। किन्तु मामले के इस पक्ष पर मेरे माननीय भाई मजमूदार तथा माननीय भाई पटनायक दोनों द्वारा विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है, और इसलिए मैं इस संबंध में कोई अतिरिक्त कारण अभिलिखित करना नहीं चाहता, बल्कि उनके विचारों को अपनाते हुए उनसे अपनी सहमति अभिलिखित करता हूँ। उपरोक्त दृष्टिकोण में, मैं दोनों अपीलों को निरस्त करता हूँ, तथापि व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

सेठी, न्यायमूर्ति (स्वयं तथा खरे, न्यायमूर्ति की ओर से)

हमने माननीय भाई मजमूदार, न्यायमूर्ति द्वारा तैयार किए गए अत्यंत सुव्यवस्थित, स्पष्ट एवं विद्वत्तापूर्ण निर्णय का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन किया है, किन्तु मामले में सम्मिलित मुख्य प्रश्नों पर उनसे सहमत होना हमारे लिए कठिन है, जो निःसंदेह भारतीय राज्य-व्यवस्था के भविष्य पर दूरगामी प्रभाव डालने वाले हैं। चूँकि न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा 'न्यायिक सेवा' के संबंध में विधि बनाने के लिए विधायिका के सार्वभौम अधिकारों के संदर्भ में संविधान के विभिन्न उपबंधों की व्याख्या, संसदीय लोकतंत्र में अपनाई गई संवैधानिक व्यवस्था को प्रभावित करने की संभावना रखती है, इसलिए हमने एक पृथक निर्णय लिखना उचित समझा है।

एस.एल.पी. संख्या 16476 वर्ष 1993 में अनुमति प्रदान की जाती है।

यह निर्विवाद है कि भारत एक संसदीय लोकतंत्र है, जिसके पास देश के शासन के लिए जनता द्वारा अंगीकृत एक विस्तृत लिखित संविधान है। संविधान यह घोषणा करता है कि देश के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और उपासना की स्वतंत्रता; तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समानता सुनिश्चित की जाएगी। इस देश में स्थापित संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था ग्रेट ब्रिटेन के वेस्टमिन्स्टर अनुभव से संबंधित है। संयुक्त राजशाही में प्रचलित और अनुसरित संसदीय प्रणाली के सभी मूलभूत सिद्धांतों को हमारे देश के संविधान निर्माताओं ने अपनाया। संवैधानिक व्यवस्था सामान्यतः शक्तियों के पृथक्करण की परिकल्पना करती है, जो संयुक्त राज्य अमेरिका की संवैधानिक प्रणाली में प्रचलित "नियंत्रण और संतुलन" की अवधारणा के समान नहीं है। राज्य के मुख्य अंगों के बीच शक्तियों के पृथक्करण की इस योजना के कार्यान्वयन में, कभी-कभी अतिक्रमण के बिना भी परस्पर आच्छादन पाया जाता है, क्योंकि संविधान में अंतःक्रियात्मक उपबंध विद्यमान हैं।

संवैधानिक व्यवस्था कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तरदायी बनाती है। संविधान सभा का सर्वोपरि विचार और प्रमुख उद्देश्य यह था कि लोकप्रिय जन-प्रतिनिधियों को शासन में लाया जाए और सरकार को जनता के प्रतिनिधियों के प्रति जवाबदेह बनाया जाए। भारत में अपनाई गई और आधी शताब्दी से अधिक समय तक व्यवहार में रही संसदीय प्रणाली ने, व्यापक रूप से, बदलती परिस्थितियों के साथ कदम मिलाया है और संसद की परिवर्तित भूमिका की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु नवीनताओं तथा प्रथाओं को आत्मसात किया है। संविधान में किए गए विभिन्न उपबंध राष्ट्र की उस इच्छा को प्रतिबिंबित करते हैं जिसके अनुसार सामान्य व्यक्ति की आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु एक व्यवहारिक सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जाए। इस प्रणाली का उद्देश्य सामान्य जनसमुदाय की संतुष्टि के लिए वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करना है। संसदीय शासन प्रणाली की परिकल्पना करने वाला संवैधानिक ढाँचा देश में एक संप्रभु, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष,

लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना सुनिश्चित करता है। यह मौलिक अधिकारों की गारंटी देता है तथा राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों को अनिवार्य बनाता है। देश में अर्ध-संघीय व्यवस्था प्रदान करने तथा राज्य और केंद्र के बीच विधायी शक्तियों के वितरण की योजना की परिकल्पना करने के अतिरिक्त, यह विधि के शासन की स्थापना पर भी बल देता है। संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था के अंतर्गत परिकल्पित शासन-प्रणाली एक प्रतिनिधिक लोकतंत्र है, जिसमें देश की जनता को अपनी संप्रभुता का प्रयोग विधायिका के माध्यम से करने का अधिकार है, जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाना है, और जिसके प्रति कार्यपालिका, अर्थात् मंत्रिपरिषद, उत्तरदायी होती है। विधायिका को राज्य की गतिविधियों का केन्द्रीय तंत्र स्वीकार किया गया है। जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि संसद के माध्यम से ही जनता की शिकायतों को व्यक्त करते हैं।

संविधान अपने विभिन्न भागों में ऐसे उपाय और साधन निर्धारित करता है जिनके द्वारा शासन के तीनों अंग, अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, एक-दूसरे के निर्धारित क्षेत्र में हस्तक्षेप किए बिना कार्य कर सकें।

यद्यपि शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को कठोर रूप से स्वीकार नहीं किया गया है, तथापि यह राज्यों में स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है। इस न्यायालय ने *चंद्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* एआईआर (1966) एससी 1987 में यह कहा:

> "भारतीय संविधान, यद्यपि शक्तियों के पृथक्करण के कठोर सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता, तथापि राज्यों में एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है; यह प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की स्थापना करता है, उसके न्यायाधीशों की सेवा की संस्थागत शर्तों का निर्धारण करता है, उसे व्यापक अधिकारिता प्रदान करता है ताकि वह विनिर्दिष्ट आदेश जारी कर सभी अधिकरणों, और उपयुक्त मामलों में सरकारों को भी, उनकी सीमाओं के भीतर रख सके, तथा उसे अपने अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले सभी न्यायालयों

और अधिकरणों पर अधीक्षण की शक्ति प्रदान करता है। किन्तु संविधान निर्माताओं ने यह भी अनुभव किया कि 'भारत में अधीनस्थ न्यायपालिका ही वह संस्था है जो जनता के सबसे निकट संपर्क में आती है, और यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि संभवतः उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उनकी स्वतंत्रता, उच्च न्यायाधीशों की भाँति, संदेह से परे रखी जाए।' संभवतः न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतंत्र सुरक्षित करने के लिए ही संविधान ने भाग VI के अध्याय VI में "अधीनस्थ न्यायालय" शीर्षक के अंतर्गत अनुच्छेदों का एक समूह सम्मिलित किया। किन्तु जिस समय संविधान बनाया गया, उस समय अधिकांश राज्यों में दण्डाधिकारिता प्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका के नियंत्रण में थी। वास्तव में यह सर्वविदित है कि स्वतंत्रता-पूर्व भारत में इस धारणा के आधार पर एक सशक्त आंदोलन चला था कि जब तक दोनों को पृथक नहीं किया जाएगा, तब तक निम्न स्तर की न्यायपालिका की स्वतंत्रता केवल एक उपहास बनकर रह जाएगी। इसी कारण राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों में अनुच्छेद 50 यह घोषित करता है कि राज्य, राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए कदम उठाएगा।सरल शब्दों में कहें तो इसका अर्थ यह है कि कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त एक पृथक न्यायिक सेवा होनी चाहिए।"

देश की संवैधानिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता न्यायालयों को सौंपी गई न्यायिक समीक्षा की भूमिका है। संयुक्त राज्य अमेरिका के विपरीत, हमारा संविधान सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को कार्यपालिका और विधायिका के कार्यों की जाँच करने का अधिकार स्पष्ट रूप से देता है, यदि ऐसे कार्य संविधान के अनुरूप न हों। एक स्वतंत्र, प्रभावी और जीवंत न्यायपालिका के अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए संविधान के भाग V, अध्याय IV (संघीय न्यायपालिका से संबंधित), भाग VI, अध्याय V (राज्यों के उच्च न्यायालयों से

संबंधित) और अध्याय VI (अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित) में प्रावधान किया गया है। इस न्यायालय ने विभिन्न निर्णयों में न्यायपालिका को कार्यपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखने के महत्व पर बल दिया है ताकि यह प्रभावी रूप से स्वतंत्र हो सके।

एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ, [1982] 2 एससीआर 365 में, भगवती, न्यायमूर्ति, जैसा कि उस समय माननीय न्यायाधीश थे, ने घोषित किया कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता का सिद्धांत कोई अमूर्त अवधारणा नहीं है, बल्कि यह एक जीवंत आस्था है, जिसे अपनी प्रेरणा संवैधानिक घोषणा-पत्र से तथा अपना पोषण और आधार संवैधानिक मूल्यों से प्राप्त होना चाहिए। भारतीय न्यायपालिका को सामाजिक क्रांति का एक दस्तावेज बताया गया, जो न्यायपालिका सहित राज्य की प्रत्येक संस्था पर, जो राज्य का एक पृथक किन्तु समान अंग है, यह दायित्व डालता है कि वह *यथास्थिति* को एक ऐसी नवीन मानवीय व्यवस्था में परिवर्तित करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे तथा सभी के लिए प्रतिष्ठा और अवसर की समानता हो। ब्रिटिश न्याय-प्रशासन की अवधारणा को एक स्थिर और जड़ समाज के लिए संतोषजनक माना गया, किन्तु ऐसे समाज के लिए नहीं जो लैंगिक न्याय, श्रमिक न्याय, अल्पसंख्यक न्याय, दलित न्याय तथा दीर्घकालिक असमानताओं से ग्रस्त व्यक्तियों के बीच समान न्याय की आकांक्षाओं से स्पंदित हो। ग्लैनविल ऑस्टिन के शब्दों में, न्यायपालिका को सामाजिक-आर्थिक क्रांति का एक अंग बनना होगा और ऐसी सक्रिय भूमिका निभानी होगी जिसका उद्देश्य सामाजिक न्याय को सामान्य व्यक्ति की पहुँच के भीतर लाना हो।

वर्तमान मामले में विवाद अधीनस्थ न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर कथित अतिक्रमण से संबंधित है, जिसे संविधान के अनुच्छेद 236 में "न्यायिक सेवा" के रूप में परिभाषित किया गया है। यह तर्क दिया गया है कि संविधान के भाग VI के अध्याय VI के उपबंधों की व्याख्या स्वतंत्र रूप से की जानी चाहिए, और संविधान के अन्य आश्वासनों तथा उन उपबंधों की उपेक्षा की जानी चाहिए जो संघ और राज्यों की लोक सेवाओं से संबंधित विषयों के लिए

अनुच्छेद 309 के अंतर्गत किए गए हैं। एक पक्ष से यह प्रस्तुत किया गया है कि उक्त अध्याय VI एक स्व-निहित उपबंध है, जिसमें राज्य के किसी अन्य अंग, अर्थात् कार्यपालिका या विधायिका, द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर यह तर्क दिया गया है कि यद्यपि उक्त अध्याय में किए गए उपबंध अनिवार्य हैं, तथापि कार्यपालिका या विधायिका उन उपबंधों को पूरक रूप से विस्तारित करने से वंचित नहीं हैं, बशर्ते कि वे विधि द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण न करें अथवा ऐसा कोई उपबंध न बनाएँ जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता को संकट में डालने वाला हस्तक्षेप माना जाए। भाग VI, अध्याय VI के अंतर्गत परिकल्पित सेवा की प्रकृति तथा भाग XIV, अध्याय I में उल्लिखित सेवा के संबंध में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए गए हैं।

आक्षेपित अधिनियम, जो बिहार अधिनियम संख्या 3, 1992 है, अनुच्छेद 309 के उपबंधों से संबंधित है और इसे राज्य विधानमंडल द्वारा भाग XI, अध्याय I को सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 41 तथा सूची III की प्रविष्टि 11ए के साथ पढ़े जाने पर प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिनियमित किया गया है। आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 सभी सेवाओं, जिनमें न्यायिक सेवा भी सम्मिलित है, में आरक्षण का प्रावधान करती है। पटना उच्च न्यायालय ने उक्त धारा को न्यायिक सेवा पर अनुप्रयोज्य ठहराया, जिसके परिणामस्वरूप न्यायिक सेवा में नियुक्तियाँ बिना किसी आरक्षण के की गईं।

मजमूदार, न्यायमूर्ति के निर्णय में वर्णित तथ्यों की पुनरावृत्ति किए बिना, यह उल्लेखनीय है कि जब पटना उच्च न्यायालय ने प्रशासनिक रूप से न्यायिक सेवाओं में आरक्षण स्वीकार करने से इंकार कर दिया, तब राज्य विधानमंडल ने आक्षेपित अधिनियम अधिनियमित किया।

संविधान का अनुच्छेद 233 यह उपबंध करता है कि जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति उस राज्य के राज्यपाल द्वारा उस राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जाएगी। किसी व्यक्ति की जिला न्यायाधीश के पद पर प्रत्यक्ष

नियुक्ति केवल तभी की जा सकती है जब वह सात वर्षों तक अधिवक्ता/प्लीडर रहा हो और उच्च न्यायालय द्वारा नियुक्ति हेतु अनुशंसित किया गया हो। इस अनुच्छेद के अंतर्गत परिकल्पित नियुक्ति प्रत्यक्ष भर्ती के माध्यम से प्रारंभिक नियुक्ति अथवा सेवा से प्रारंभिक पदोन्नति है। राज्यपाल द्वारा नियुक्ति की शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय से परामर्श की शर्त से बंधित है, जिसका अर्थ यह है कि वह केवल उसी व्यक्ति को जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर सकता है जिसकी अनुशंसा उच्च न्यायालय ने की हो। परामर्श के उद्देश्य पर इस न्यायालय ने *चंद्र मोहन का मामला* (उपरोक्त) में विचार किया था, जिसमें यह कहा गया:

> "संवैधानिक आदेश स्पष्ट है। राज्यपाल द्वारा नियुक्ति की शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय से परामर्श की शर्त से बंधित है; अर्थात् वह जिला न्यायाधीश के पद पर किसी व्यक्ति को केवल उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही नियुक्त कर सकता है। परामर्श का उद्देश्य स्पष्ट है। यह अपेक्षित है कि उच्च न्यायालय, राज्यपाल की अपेक्षा, इस बात को बेहतर ढंग से जानता होगा कि 'न्यायिक सेवा' अथवा अधिवक्ता संघ से संबंधित कोई व्यक्ति जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए उपयुक्त है या नहीं। अतः राज्यपाल पर यह दायित्व आरोपित किया गया है कि वह नियुक्ति ऐसे निकाय से परामर्श करके करे जो उसे परामर्श देने के लिए उपयुक्त प्राधिकारी है। इस संवैधानिक आदेश का उल्लंघन राज्यपाल दो प्रकार से कर सकता है, अर्थात्— (i) उच्च न्यायालय से बिल्कुल भी परामर्श न करके, और (ii) उच्च न्यायालय से परामर्श करने के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों से भी परामर्श करके। एक स्थिति में वह संविधान के आदेश का प्रत्यक्ष उल्लंघन करता है और दूसरी स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा करता है, क्योंकि उसका मन उन अन्य व्यक्तियों से प्रभावित हो सकता है जो उसे परामर्श देने के अधिकारी नहीं हैं।"

इस न्यायालय ने *असम राज्य और अन्य बनाम कुसेश्वर सैकिया एवं अन्य,* एआईआर (1970) एससी 1616 में यह अभिनिर्धारित किया कि पृथक न्यायिक सेवा की व्यवस्था इसलिए की गई थी ताकि जिला न्यायाधीश का पद कार्यपालिका के नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त रहे।

चंद्रमौलेश्वर मोहन प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय और अन्य, एआईआर (1970) एससी 370 में इस न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 233 का मूल उद्देश्य यह है कि राज्यपाल उच्च न्यायालय के साथ विचार-विमर्श करने के पश्चात अपना निर्णय बनाए। उच्च न्यायालय वह निकाय है जो उन अधिकारियों की कार्यकुशलता तथा गुणवत्ता से घनिष्ठ रूप से परिचित होता है जो जिला न्यायाधीश के रूप में पदोन्नति के लिए उपयुक्त हैं। केवल उच्च न्यायालय ही उनके गुणों के साथ-साथ उनकी कमियों को भी जानता है, और अनुच्छेद 233 के अंतर्गत उच्च न्यायालय से किया जाने वाला परामर्श कोई औपचारिकता मात्र नहीं है।

वर्तमान मामले में यह आक्षेपित नहीं है कि राज्य विधानमंडल को भाग XI, अध्याय I को सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 41 तथा सूची III की प्रविष्टि 11ए के साथ पढ़े जाने पर आक्षेपित अधिनियम अधिनियमित करने की पूर्ण शक्ति प्राप्त थी। यह भी आक्षेपित नहीं है कि उक्त अधिनियम को संविधान के मौलिक अधिकारों, राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों तथा अनुच्छेद 335 के अंतर्गत राज्य के दायित्व को प्रभावी बनाने हेतु अधिनियमित किया गया था।

विवाद का आधार संविधान के अनुच्छेद 233, 234, 235 तथा 309 की व्याख्या पर आधारित है। उच्च न्यायालय ने यह माना कि न्यायिक सेवा रोजगार के अर्थ में कोई सेवा नहीं थी और वह अन्य सेवाओं से भिन्न थी। आक्षेपित अधिनियम के विभिन्न उपबंधों तथा "किसी कार्यालय या विभाग", "स्थापना" और "राज्य" शब्दों की परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए, उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि उक्त अधिनियम की धारा 4 के उपबंध न्यायिक सेवा पर लागू नहीं होते और उसके अनुसार जिला न्यायाधीशों तथा जिला

न्यायाधीश के अधीनस्थ अन्य न्यायिक अधिकारियों के पदों पर नियुक्ति के मामलों में कोई आरक्षण नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय ने *अखिल भारतीय न्यायाधीश संघ और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य, ए. आई. आर.* (1993) एस. सी. 2493 में इस न्यायालय द्वारा की गई टिप्पणियों का व्यापक रूप से उल्लेख करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि न्यायिक सेवा को संविधान में एक विशेष दर्जा और स्थान प्रदान किया गया है, जो संवैधानिक ढाँचे के अंतर्गत अन्य सेवाओं से भिन्न है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अधिनियम के अंतर्गत "कार्यालय या विभाग" तथा "स्थापना" की परिभाषा न्यायालय के कार्यालय या विभाग से संबंधित है, न कि स्वयं न्यायालय से।

संविधान का भाग XIV, अध्याय I "संघ और राज्यों के अधीन सेवाओं" से संबंधित है। अनुच्छेद 309 उपयुक्त विधानमंडल को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह संघ या किसी राज्य के कार्यों से संबंधित लोक सेवाओं और पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों का विनियमन करे, किन्तु यह अधिकार संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन है। अनुच्छेद 309 का परंतुक कार्यपालिका को यह अधिकार देता है कि वह ऐसी सेवाओं अथवा पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बनाए, जब तक कि उस संबंध में उपयुक्त विधानमंडल अनुच्छेद 309 के अंतर्गत अपनी शक्ति का प्रयोग न कर ले।

"लोक सेवा" से अभिप्राय देश के किसी भाग में संघ अथवा राज्य के कार्यों के संबंध में जनता की सेवा के लिए किए गए किसी कार्य से है। यह गैर-सरकारी सेवा के विपरीत है। राज्य के किसी भी अंग, अर्थात् कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका, जिनमें सशस्त्र बल भी सम्मिलित हैं, से संबंधित सार्वजनिक कर्तव्यों के निर्वहन से जुड़े व्यक्तियों को "लोक सेवक" कहा जाएगा, जो जनता की सेवा में संलग्न हैं।

संघ अथवा किसी राज्य के कार्यों से संबंधित लोक सेवाएँ और पद, संघ तथा राज्य के अधीन सभी सेवाओं और पदों को संदर्भित करेंगे, और इनमें प्रत्येक सैन्य, नौसैनिक

अथवा वायुसेना का कमीशन प्राप्त अधिकारी; प्रत्येक न्यायाधीश; प्रत्येक न्यायालय का अधिकारी; पंचायत का सदस्य; प्रत्येक मध्यस्थ अथवा अन्य व्यक्ति, जिसके पास किसी न्यायालय द्वारा किसी वाद या विषय को निर्णय अथवा प्रतिवेदन हेतु भेजा गया हो; प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जो किसी ऐसे पद पर आसीन हो जिसके कारण उसे किसी व्यक्ति को निरुद्ध करने अथवा निरुद्ध रखने का अधिकार प्राप्त हो; सरकार का प्रत्येक ऐसा अधिकारी जिसका कर्तव्य अपराधों को रोकना, अपराधों की सूचना देना, अपराधियों को न्याय के समक्ष प्रस्तुत करना अथवा लोक स्वास्थ्य, सुरक्षा या सुविधा की रक्षा करना हो; प्रत्येक ऐसा अधिकारी जिसका कर्तव्य सरकार की ओर से किसी संपत्ति को ग्रहण करना, प्राप्त करना, सुरक्षित रखना या व्यय करना हो अथवा सरकार की ओर से कोई सर्वेक्षण, मूल्यांकन या अनुबंध करना हो; प्रत्येक ऐसा अधिकारी जो ऐसे पद पर हो जिसके कारण उसे निर्वाचक नामावली तैयार करने, प्रकाशित करने, बनाए रखने अथवा संशोधित करने अथवा किसी निर्वाचन या उसके किसी भाग का संचालन करने का अधिकार प्राप्त हो; प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो सरकार की सेवा या वेतन पर हो अथवा सरकार द्वारा किसी लोक कर्तव्य के निर्वहन के लिए फीस या कमीशन द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करता हो; अथवा ऐसा व्यक्ति जो किसी स्थानीय प्राधिकरण, किसी केंद्रीय या राज्य अधिनियम द्वारा स्थापित निगम, आदि के वेतन पर हो— सम्मिलित होंगे। भारतीय दंड संहिता की धारा 21 उन लोक सेवाओं और पदों का संकेतक मानी जा सकती है, जिन्हें संविधान के अनुच्छेद 309 के अंतर्गत आच्छादित अथवा परिकल्पित किया गया है। अतः न्यायिक सेवा को अनुच्छेद 309 के अर्थ में सेवा न माना जाना उचित नहीं होगा। फलस्वरूप, अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला न्यायाधीश की नियुक्ति, संविधान के अनुच्छेद 309 के अर्थ में लोक सेवा में नियुक्ति है। यह सत्य है कि संवैधानिक व्यवस्था एक स्वतंत्र न्यायपालिका की परिकल्पना करती है जो कार्यपालिका के अधीन नहीं है, किन्तु ऐसी स्वतंत्र न्यायपालिका को राज्य में ऐसी पृथक सेवा का सृजन नहीं माना जा सकता जो विधायिका की विधि-निर्माण संबंधी सार्वभौम शक्तियों के अधीन न हो। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया

गया है, अनुच्छेद 309 स्वयं संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन है, जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान करते हैं। जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति राज्यपाल में निहित है, किन्तु वह संविधान के अनुच्छेद 233 में अधिरोपित शर्तों के अधीन है।

अतः इसका परिणाम यह है कि संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, उपयुक्त विधानमंडल संघ अथवा राज्य के कार्यों से संबंधित लोक सेवाओं, जिनमें न्यायिक सेवाएँ और पद भी सम्मिलित हैं, पर नियुक्त सभी व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकता है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 309 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बना सकता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाली संवैधानिक व्यवस्था स्पष्ट एवं निर्विवाद रूप से यह उपबंध करती है कि न्यायिक सेवा के संबंध में अनुशासनात्मक प्राधिकार तथा अधिकारिता का प्रयोग करने की कोई शक्ति कार्यपालिका को प्रदान नहीं की गई है। संविधान के अंतर्गत स्पष्ट उपबंध किया गया है, जिसके द्वारा "जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण" उच्च न्यायालय में निहित किया गया है। भारत सरकार अधिनियम, 1935 में ऐसा कोई उपबंध विद्यमान नहीं था।

पश्चिम बंगाल राज्य बनाम नृपेंद्र नाथ बागची, एआईआर (1966) एससी 447 में इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 233, 234 और 235 का उल्लेख करने के पश्चात यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त अनुच्छेदों का उद्देश्य राज्य की न्यायिक सेवा के लिए विशेष उपबंध करना था। यह समझने के लिए कि जब संघ और राज्यों की सेवाओं से संबंधित भाग XIV पहले से विद्यमान था, तब एक पृथक अध्याय की व्यवस्था क्यों की गई, उक्त संवैधानिक उपबंधों के इतिहास का अध्ययन आवश्यक पाया गया। यह कहा गया:

> "इससे पूर्व कि हम संक्षेप में यह उल्लेख करें कि यह अध्याय सेवाओं से संबंधित भाग के बाहर किस प्रकार अधिनियमित किया गया तथा इन अनुच्छेदों को वर्तमान रूप में क्यों शब्दबद्ध किया गया, हम भारत शासन

अधिनियम, 1935 के संबंधित उपबंधों का उल्लेख कर सकते हैं। उस अधिनियम में भी न्यायिक अधिकारियों के संबंध में विशेष उपबंध किया गया था, किन्तु उसे भाग X के अध्याय 2 के अंतर्गत सम्मिलित किया गया था, जो भारत में क्राउन के अधीन दीवानी सेवाओं से संबंधित था। उससे संबंधित धाराएँ 254 से 256 थीं और उन्हें यहाँ पुनरुत्पादित किया जा सकता है:"

"254. जिला न्यायाधीश आदि —

(1) प्रांत में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापन तथा पदोन्नति प्रांत के राज्यपाल द्वारा अपने व्यक्तिगत विवेक का प्रयोग करते हुए की जाएगी, और ऐसी किसी नियुक्ति के संबंध में कोई अनुशंसा राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किए जाने से पूर्व उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाएगा।

(2) जो व्यक्ति पहले से महामहिम की सेवा में नहीं है, वह तभी जिला न्यायाधीश नियुक्त किए जाने के लिए पात्र होगा जब वह कम-से-कम पाँच वर्षों तक बैरिस्टर, स्कॉटलैंड के फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स का सदस्य अथवा प्लीडर रहा हो और उच्च न्यायालय द्वारा नियुक्ति हेतु अनुशंसित किया गया हो।

(3) इस धारा तथा अगली अनुवर्ती धारा में 'जिला न्यायाधीश' अभिव्यक्ति में अतिरिक्त जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, लघु वाद न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेंसी दण्डाधिकारी, सत्र न्यायाधीश, अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश तथा सहायक सत्र न्यायाधीश सम्मिलित होंगे।

255. अधीनस्थ दीवानी न्यायिक सेवा।

(1) प्रत्येक प्रांत का राज्यपाल, प्रांतीय लोक सेवा आयोग तथा उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात, ऐसे नियम बनाएगा जिनमें उन व्यक्तियों द्वारा प्राप्त की जाने वाली योग्यता के मानकों को परिभाषित किया जाएगा जो किसी प्रांत की अधीनस्थ दीवानी न्यायिक सेवा में प्रवेश करने के इच्छुक हों।

इस धारा में "अधीनस्थ दीवानी न्यायिक सेवा" से अभिप्राय ऐसी सेवा से है जिसमें केवल वे व्यक्ति सम्मिलित हों जो जिला न्यायाधीश के पद से निम्नतर दीवानी न्यायिक पदों को भरने के लिए अभिप्रेत हों।

(2) प्रत्येक प्रांत का प्रांतीय लोक सेवा आयोग, ऐसी परीक्षाएँ आयोजित करने के पश्चात, यदि कोई हों, जिन्हें राज्यपाल आवश्यक समझे, समय-समय पर उस प्रांत की अधीनस्थ दीवानी न्यायिक सेवा में नियुक्ति हेतु अभ्यर्थियों में से उन व्यक्तियों की सूची अथवा सूचियाँ तैयार करेगा जिन्हें वह उस सेवा में नियुक्ति के लिए उपयुक्त समझता हो, और उस सेवा में नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों में से की जाएँगी जिनके नाम उक्त सूची अथवा सूचियों में सम्मिलित हों, तथा यह नियुक्तियाँ ऐसे विनियमों के अनुसार होंगी जिन्हें राज्यपाल समय-समय पर इस विषय में बनाए कि उक्त सेवा में विभिन्न समुदायों से संबंधित व्यक्तियों की संख्या कितनी होगी।

(3) किसी प्रांत की अधीनस्थ दीवानी न्यायिक सेवा से संबंधित तथा जिला न्यायाधीश के पद से निम्नतर कोई पद धारण करने वाले व्यक्तियों का पदस्थापन, पदोन्नति तथा अवकाश प्रदान करना उच्च न्यायालय के अधिकार में होगा; किन्तु इस धारा की किसी बात का

यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि उससे ऐसे किसी व्यक्ति का वह अपील का अधिकार समाप्त हो जाए जिसे इस अध्याय के पूर्ववर्ती उपबंधों द्वारा उसे दिया जाना आवश्यक है, अथवा यह कि उच्च न्यायालय को ऐसे किसी व्यक्ति के साथ उसकी सेवा की शर्तों के अनुसार अन्यथा व्यवहार करने का अधिकार प्राप्त हो।

256. अधीनस्थ दाण्डिक दण्डाधिकारी।

किसी व्यक्ति को दण्डाधिकारी शक्तियाँ अथवा उन्नत दण्डाधिकारी शक्तियाँ प्रदान करने अथवा उससे ऐसी किसी दण्डाधिकारी शक्ति को वापस लेने की कोई अनुशंसा, उस जिले के जिला दण्डाधिकारी जिससे वह संबंधित हो अथवा जहाँ वह कार्यरत हो, या यथास्थिति मुख्य राष्ट्रपति दण्डाधिकारी से परामर्श किए बिना नहीं की जाएगी।"

यह तुरंत इंगित किया जा सकता है कि वर्तमान संविधान में इन उपबंधों को भारत में सेवाओं से संबंधित अध्याय से निकालकर राज्यों के उच्च न्यायालयों से संबंधित उपबंधों के पश्चात पृथक रूप से रखा गया है।

(8) सन् 1912 में ही इस्लिंगटन आयोग ने यह कहा था कि आयोग के समक्ष उपस्थित गवाहों ने दो माँगें प्रस्तुत की थीं— (1) उच्च न्यायिक सेवा, अर्थात् जिला न्यायाधीश पद, में बार से भर्ती; तथा (2) न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करना। आयोग ने अपनी प्रतिवेदन में कहा: "भारत में कार्यपालिका और न्यायिक कार्यों के पृथक्करण के प्रश्न पर जनमत अत्यधिक सक्रिय है..." और यह भी अवलोकित किया कि "इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विधि-निर्माण आवश्यक होगा।" आयोग ने अपनी प्रतिवेदन 14 अगस्त, 1915 को प्रस्तुत की, अर्थात् भारत शासन अधिनियम, 1915 (5 और 6 जियो. वी. सी.61) के अधिनियमित होने के कुछ ही दिनों पश्चात। अतः उस अधिनियम

में भारत की न्यायिक सेवाओं के संबंध में कोई विशेष उपबंध सम्मिलित नहीं किया गया था। उस समय प्रथम विश्व युद्ध भी चल रहा था। सन् 1919 में, भारत शासन अधिनियम, 1915 में धारा 96-बी से 96-ई तक थी तक सम्मिलित करते हुए भाग VII-ए जोड़ा गया। धारा 96-बी में यह उपबंध किया गया कि भारत में क्राउन की दीवानी सेवा का प्रत्येक व्यक्ति महामहिम की इच्छा तक पद धारण करेगा, किन्तु उस सेवा में किसी व्यक्ति को उस प्राधिकारी से निम्नतर किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जा सकता जिसके द्वारा उसकी नियुक्ति की गई हो। हमारे लिए प्रासंगिक एकमात्र धारा 96-बी है। उस धारा की उपधारा (2) इस प्रकार है:

> "(2) राज्य सचिव परिषद, भारत की दीवानी सेवाओं के वर्गीकरण, उनकी भर्ती की विधियों, उनकी सेवा की शर्तों, वेतन एवं भत्तों तथा अनुशासन और आचरण के विनियमन हेतु नियम बना सकता है। ऐसे नियम, जिस सीमा तक तथा जिन विषयों के संबंध में उपबंधित किया जाए, नियम बनाने की शक्ति को गवर्नर-जनरल इन काउंसिल अथवा स्थानीय सरकारों को प्रत्यायोजित कर सकते हैं, अथवा भारतीय विधानमंडल अथवा स्थानीय विधानमंडलों को लोक सेवाओं के विनियमन हेतु विधि बनाने के लिए अधिकृत कर सकते हैं।"

मौलिक नियम तथा दीवानी सेवाएँ (वर्गीकरण, नियंत्रण एवं अपील) नियम, उपर्युक्त नियम-निर्माण शक्ति के अंतर्गत भारत सचिव-परिषद् द्वारा निर्मित किए गए थे। ये नियम उच्च न्यायालयों को छोड़कर न्यायिक सेवाओं पर लागू होते थे।भारत शासन अधिनियम का भाग IX भारतीय उच्च न्यायालयों, उनकी संरचना तथा अधिकार-सीमा से संबंधित था। धारा 107 के द्वारा उच्च न्यायालयों को उन सभी न्यायालयों पर अधीक्षण की शक्ति प्रदान की गई थी

जो उस समय उनकी अपीलीय अधिकारिता के अधीन थे, तथा उसमें उन कार्यों का भी उल्लेख किया गया था जिन्हें उच्च न्यायालय कर सकता था। किन्तु इन शक्तियों में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानांतरण अथवा उन पर प्रशासनिक नियंत्रण सम्मिलित नहीं था। उच्च न्यायालय केवल वही नियंत्रण कर सकता था जो उसकी अपीलीय अधिकारिता के अधीनस्थ न्यायालयों पर अधीक्षण की शक्ति के अंतर्गत आता हो। शक्तियों के विभाजन संबंधी नियमों में, प्रांतीय विषयों से संबंधित भाग II की प्रविष्टि 17 इस प्रकार थी—

> "न्याय प्रशासन, जिसमें प्रांत के भीतर दीवानी न्यायालयों तथा दाण्डिक अधिकारिता का गठन, शक्तियाँ, व्यवस्था एवं संगठन सम्मिलित हैं; किन्तु उच्च न्यायालयों, प्रधान न्यायालयों, न्यायिक आयुक्तों के न्यायालयों तथा किसी भी दाण्डिक अधिकारिता वाले न्यायालयों के संबंध में भारतीय विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के अधीन।"

इस प्रकार प्रतीत होता है कि न्यायिक अधिकारियों की स्वतंत्रता से संबंधित वह समस्या, जो जनता के मन-मस्तिष्क को उद्वेलित कर रही थी, उसे पूर्ण महत्व नहीं दिया गया और वस्तुतः कार्यपालिका तथा विधायिकाएँ उन पर नियंत्रण बनाए हुए थीं। इस्लिंगटन आयोग की सिफारिशें केवल कागज़ों तक सीमित रह गईं। जब मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड जाँच सम्पन्न हुई, तब उसका उद्देश्य यह निर्धारित करना था कि विधायी और कार्यकारी क्षेत्रों में भारतीयों को कितनी भागीदारी दी जा सकती है। पूर्व में जिला न्यायाधीश का पद यूरोपीय व्यक्तियों के लिए सुरक्षित था। भारतीयों के संबंध में यह अयोग्यता महारानी की 1870 की उद्घोषणा के परिणामस्वरूप समाप्त की गई और प्रथम नियम

1873 में बनाए गए। 1875 में लॉर्ड नॉर्थब्रुक की सरकार ने ऐसे नियम बनाए जिनके द्वारा भारतीयों की नियुक्ति की अनुमति दी गई तथा लॉर्ड लिटन की सरकार ने ऐसे नियम बनाए जिनमें भारतीयों के लिए 1/5 भाग का कोटा निर्धारित किया गया। भारतीयों की नियुक्ति के लिए कोई निश्चित सिद्धांत निर्धारित नहीं था और 1886 में सर चार्ल्स ऐचिसन की अध्यक्षता में गठित लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदन में विभिन्न प्रांतों में अपनाई जा रही व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। यह स्थिति 1919 तक जारी रही। भारत शासन अधिनियम द्वारा भारत में द्वैध शासन व्यवस्था लागू की गई और जब भारत शासन अधिनियम, 1935 अधिनियमित किया गया, तब हस्तांतरित विषयों में सेवाओं पर नियंत्रण के प्रश्न का निकटता से परीक्षण किया गया। यह आशंका व्यक्त की गई कि यदि शक्तियों के हस्तांतरण के परिणामस्वरूप मंत्रियों को सेवाओं पर नियंत्रण प्राप्त हो गया, तो दीवानी सेवाओं में यूरोपीय व्यक्तियों का आगमन कम हो जाएगा। सरकार ने अनेक समितियाँ नियुक्त कीं, जिनमें मैकडॉनेल समिति प्रमुख थी, जिसने सेवाओं के संदर्भ में यूरोपीय व्यक्तियों की स्थिति पर विचार किया। न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अपेक्षा यूरोपीय व्यक्तियों के हितों के प्रति अधिक चिंता व्यक्त की गई।

(9) भारतीय सांविधिक आयोग ने न्यायिक सेवाओं के विषय पर विचार नहीं किया, किन्तु संयुक्त समिति ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया। यह जानना रोचक है कि भारत सचिव ने अधीनस्थ दीवानी न्यायपालिका के विषय में एक प्रारंभिक वक्तव्य दिया था और उनका सुझाव यह था कि "सामान्य शक्ति" प्रांतीय विधानमंडलों को छोड़ दी जाए, किन्तु संविधान में ऐसा उपबंध सम्मिलित किया जाए जो एक सीमा तक उन शक्तियों का अतिक्रमण करे, अर्थात् दीवानी न्यायिक सेवाओं में नियुक्ति हेतु व्यक्तियों का चयन करने,

उनकी योग्यताएँ निर्धारित करने तथा सेवा के सदस्यों पर आवश्यक प्रशासनिक नियंत्रण रखने की शक्ति। उन्होंने यह भी कहा कि स्थानीय सरकारों की शक्तियाँ "उन सेवाओं की संख्या एवं वेतन निर्धारित करने तक सीमित होनी चाहिए जिनके लिए उच्च न्यायालय भर्ती करेगा" तथा यदि वे उचित समझें तो कोई सामान्य आवश्यकता भी निर्धारित कर सकती हैं। विचार-विमर्श के दौरान सालिसबरी के मार्क्विस ने उच्च न्यायालयों की सामान्य शक्तियों तथा अधीनस्थ न्यायालयों पर उनके नियंत्रण के संबंध में एक प्रश्न उठाया। वह इस प्रकार था—

> "जैसा कि मैंने भारत सचिव के वक्तव्य से समझा, दीवानी मामलों में अधीनस्थ न्यायाधीशों पर उच्च न्यायालय का नियंत्रण यथासंभव पूर्ण होना चाहिए तथा उसे बनाए रखा जाना चाहिए। क्या स्थिति यही है?"
>
> उत्तर दिया गया— "हाँ"। (संख्या 7937)

(10) संयुक्त समिति की सिफारिशें भी इसी उद्देश्य का अनुसरण करती थीं। प्रतिवेदन के अनुच्छेद 337, पृष्ठ 201 में निम्नलिखित टिप्पणियाँ की गईं—

> "337. अधीनस्थ न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने की आवश्यकता। संघीय न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाएगी और उनकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहेगी; किन्तु अधीनस्थ न्यायपालिका में नियुक्तियाँ अनिवार्यतः भारत स्थित प्राधिकारियों द्वारा की जानी होंगी, जो नियुक्ति के पश्चात न्यायाधीशों पर, विशेषकर पदोन्नति और पदस्थापन के मामलों में, एक सीमा तक नियंत्रण भी रखेंगे। हम उन दुष्परिणामों से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं जो अन्य स्थानों पर ऐसी व्यवस्था के कारण उत्पन्न हुए, जिसमें न्यायिक श्रेणीक्रम में एक स्तर से दूसरे स्तर तक

पदोन्नति की शक्ति ऐसे मंत्री के हाथों में होती है जो जन-निर्वाचित विधायिका के सदस्यों के दबाव के प्रति संवेदनशील होता है। किसी दण्डाधिकारी की स्वतंत्रता को समाप्त करने वाली इससे अधिक कोई बात नहीं हो सकती कि उसे यह ज्ञात हो कि उसका भविष्य किसी मंत्री की कृपा पर निर्भर है; और हाल के उदाहरणों ने (यद्यपि भारत में नहीं) यह अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है कि ऐसी स्थिति में स्थित दण्डाधिकारी पर किस प्रकार का दबाव डाला जा सकता है, विशेषकर उन व्यक्तियों द्वारा जिन्हें मंत्री पर प्रभाव डालने में सक्षम माना जाता है। भारत में अधीनस्थ न्यायपालिका ही वह संस्था है जो जनता के सबसे निकट संपर्क में आती है, और यह कम महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि संभवतः उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उनकी स्वतंत्रता को, उच्च न्यायाधीशों की भाँति, किसी भी संदेह से परे रखा जाए..."

फलस्वरूप, जब भारत शासन अधिनियम, 1935 पारित किया गया, तब उसमें जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायपालिका के संबंध में विशेष उपबंध (धाराएँ 254-256, जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है) सम्मिलित किए गए। यह ध्यान देने योग्य है कि अधीनस्थ दाण्डिक दण्डाधिकारी को तत्काल उच्च न्यायालयों के अधीन लाने का कोई प्रयास नहीं किया गया, किन्तु प्रांत की अधीनस्थ न्यायिक सेवा से संबंधित व्यक्तियों के पदस्थापन, पदोन्नति तथा अवकाश प्रदान करने की शक्ति उच्च न्यायालय को सौंप दी गई; यद्यपि नियमों में निर्दिष्ट किसी प्राधिकारी के समक्ष अपील का अधिकार सुरक्षित रखा गया था तथा उच्च न्यायालयों को यह निर्देश दिया गया था कि वे सेवा-नियमों द्वारा निर्धारित शर्तों के अतिरिक्त अन्यथा कार्य न करें। जहाँ तक जिला

न्यायाधीशों का संबंध था, उनके पदस्थापन और पदोन्नति का कार्य प्रांत के राज्यपाल द्वारा अपने व्यक्तिगत विवेक का प्रयोग करते हुए किया जाना था और ऐसी नियुक्ति संबंधी अनुशंसा राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किए जाने से पूर्व उच्च न्यायालय से परामर्श आवश्यक था। चूँकि भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 240 में यह उपबंध था कि किसी दीवानी सेवक को उससे निम्न प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जाएगा जिसने उसे नियुक्त किया हो, इसलिए राज्यपाल ही पदच्युति का प्राधिकारी भी था। भारत शासन अधिनियम, 1935 जिला न्यायाधीशों तथा अधीनस्थ न्यायिक सेवाओं पर नियंत्रण के विषय में मौन था। धारा 224 के अंतर्गत उच्च न्यायालय का प्रशासनिक नियंत्रण अपने अधीनस्थ न्यायालयों पर केवल निर्दिष्ट विषयों तथा उन पर अधीक्षण तक ही विस्तृत था। इस प्रकार अधीनस्थ न्यायपालिका तथा जिला न्यायाधीशों की स्वतंत्रता को एक सीमा तक तो सुनिश्चित किया गया, किन्तु पूर्ण रूप से नहीं।

(11) जब संविधान का प्रारूप तैयार किया जा रहा था, तब दुर्भाग्यवश 1935 के अधिनियम द्वारा की गई प्रगति को दृष्टि से ओझल कर दिया गया। प्रारूप संविधान में अधीनस्थ न्यायपालिका के संबंध में किसी विशेष उपबंध का उल्लेख नहीं किया गया था, यहाँ तक कि भारत शासन अधिनियम, 1935 में किए गए उपबंधों के समान भी कोई व्यवस्था उसमें नहीं थी। यदि वही स्थिति बनी रहती, तो न्यायिक सेवाएँ भारत की सेवाओं से संबंधित भाग XIV के अधीन आ जातीं। सौभाग्यवश, एक संशोधन स्वीकार कर लिया गया जिसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 233 से 237 को संविधान में सम्मिलित किया गया। इन अनुच्छेदों को सेवाओं संबंधी अध्याय में स्थान न देकर उच्च

न्यायालयों से संबंधित उपबंधों के तुरंत पश्चात रखा गया। ये अनुच्छेद भारत शासन अधिनियम की समतुल्य धाराओं की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत थे।"

आगे यह भी कहा गया कि अनुच्छेद 233 तथा 235 दो पृथक शक्तियों का उल्लेख करते हैं। पहली शक्ति व्यक्तियों की नियुक्ति, उनके पदस्थापन तथा पदोन्नति से संबंधित है और दूसरी शक्ति नियंत्रण की है। इस न्यायालय ने उस तर्क को स्वीकार नहीं किया कि "जिला न्यायालय" शब्द केवल न्यायालय को सूचित करता है, उसके पीठासीन अधिकारी को नहीं। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 235 का उत्तरार्द्ध उस व्यक्ति को संदर्भित करता है जो उस पद को धारण करता है। इन अनुच्छेदों द्वारा "नियंत्रण" उच्च न्यायालय में निहित किया गया है। उक्त अनुच्छेदों का उद्देश्य संविधान के अनुच्छेद 50 में निहित राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अनुरूप माना गया, जो राज्यों को यह निर्देश देता है कि वे राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए कदम उठाएँ। अनुच्छेद 233, 234 तथा 235 के संदर्भ में अनुच्छेद 50 का उल्लेख स्पष्ट एवं निर्विवाद रूप से यह प्रदर्शित करता है कि इस न्यायालय ने न्यायिक सेवा को अनुच्छेद 309 के अर्थ में एक लोक सेवा माना है, जिसके संबंध में विधि बनाई जा सकती है, किन्तु यह शक्ति संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन है जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता का प्रावधान और संरक्षण करते हैं।

बी.एस. यादव और अन्य, आदि बनाम हरियाणा राज्य और अन्य, आदि, [1981] 1 एससीआर 1024 में इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 235 तथा 309 के क्षेत्र और सीमा पर विचार किया तथा यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायिक अधिकारियों के संबंध में नियम बनाने की शक्ति उच्च न्यायालय में नहीं, बल्कि राज्यपाल में निहित है। अनुच्छेद 235 का प्रथम भाग जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित करता है और उसी अनुच्छेद का द्वितीय भाग यह उपबंध करता है कि इस अनुच्छेद की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि न्यायिक सेवा से संबंधित किसी व्यक्ति से वह अपील का अधिकार छीन लिया जाए जो उसे उसकी सेवा की शर्तों को

विनियमित करने वाली विधि के अधीन प्राप्त है, अथवा उच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त हो जाए कि वह ऐसे व्यक्ति के साथ उस विधि द्वारा निर्धारित सेवा-शर्तों के अतिरिक्त अन्यथा व्यवहार करे। इस प्रकार अधीनस्थ न्यायपालिका पर उच्च न्यायालय की नियंत्रण संबंधी शक्तियों की बाह्य सीमाएँ निर्धारित कर दी गई हैं और यह स्पष्ट किया गया है कि उच्च न्यायालय के लिए यह खुला नहीं है कि वह राज्य की अधीनस्थ न्यायिक सेवा के किसी सदस्य को वह अपील का अधिकार प्रदान न करे जो उसकी सेवा की शर्तों को विनियमित करने वाली विधि द्वारा उसे प्राप्त है। यहाँ तक कि उच्च न्यायालय भी अपनी नियंत्रण संबंधी शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसे व्यक्ति के साथ उस विधि द्वारा निर्धारित सेवा-शर्तों के अतिरिक्त अन्यथा व्यवहार नहीं कर सकता। तत्पश्चात इस न्यायालय ने स्वयं से यह प्रश्न किया कि ऐसी विधि बनाने की शक्ति किसके पास है, और उसका उत्तर इस प्रकार दिया:

> "स्पष्टतः उच्च न्यायालय नहीं, क्योंकि उच्च न्यायालय को विधि बनाने की शक्ति प्राप्त नहीं है, यद्यपि उसे प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में उसके द्वारा बनाए गए नियमों को विधि का बल प्राप्त हो सकता है। विधि बनाने की शक्ति और ऐसे नियम बनाने की शक्ति, जिन्हें विधि द्वारा विधि का बल प्रदान किया गया हो, दोनों में स्पष्ट भेद है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 235 के उत्तरार्द्ध में जिस 'विधि' का उल्लेख है, वह विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाए, तो यह कहने का कोई उद्देश्य नहीं रह जाता कि उच्च न्यायालय की नियंत्रण संबंधी शक्ति का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि उससे किसी व्यक्ति के वे अधिकार समाप्त हो जाएँ जो उसकी सेवा-शर्तों को विनियमित करने वाली किसी विधि के अधीन उसे प्राप्त हैं। यह कदापि अभिप्रेत नहीं हो सकता था कि उच्च न्यायालय की नियंत्रण संबंधी शक्ति उन्हीं सेवा-शर्तों के अधीन होगी जिन्हें स्वयं उच्च न्यायालय ने निर्धारित किया हो। अतः अनुच्छेद 235 के उत्तरार्द्ध का स्पष्ट अर्थ यह है कि उसके

प्रथम भाग द्वारा उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण की शक्ति किसी न्यायिक अधिकारी को उन अधिकारों से वंचित नहीं करेगी जो उसे उसकी सेवा-शर्तों को विनियमित करने वाली विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के अधीन प्राप्त हैं।

अनुच्छेद 235 उच्च न्यायालय को जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों से संबद्ध न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों के संबंध में नियम बनाने की शक्ति प्रदान नहीं करता। जब भी संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य किसी प्राधिकारी को विशेष उपबंध अथवा नियम बनाने की शक्ति प्रदान करना रहा है, जिसमें सेवा-शर्तों से संबंधित नियम भी सम्मिलित हैं, तब संविधान में उसका स्पष्ट उपबंध किया गया है। उदाहरणार्थ, अनुच्छेद 15(4), 16(4), 77(3), 87(2), 118, 145(1), 146(1) एवं (2), 148(5), 166(3), 176(2), 187(3), 208, 225, 227(2) एवं (3), 229(1) एवं (2), 234, 237 तथा 283(1) एवं (2) को देखा जा सकता है। इन अनुच्छेदों के समूह में अनुच्छेद 225, 227(2) एवं (3) तथा 229(1) एवं (2) विशेष रूप से प्रासंगिक हैं, क्योंकि ये अनुच्छेद उच्च न्यायालय को कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नियम बनाने की शक्ति प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 229(2), जो प्रत्यक्षतः इस विषय से संबंधित है, स्पष्ट रूप से यह उपबंध करता है कि राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए, उच्च न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की सेवा-शर्तें ऐसी होंगी जैसी मुख्य न्यायाधीश अथवा उनके द्वारा अधिकृत न्यायालय के किसी अन्य न्यायाधीश या अधिकारी द्वारा बनाए गए नियमों में विनिर्दिष्ट की जाएँ। जब संविधान-निर्माताओं के समक्ष ऐसा विशिष्ट उपबंध विद्यमान था, तब यदि उनका उद्देश्य यह होता कि उच्च न्यायालयों को जिला न्यायालयों एवं उनके अधीनस्थ न्यायालयों से संबद्ध न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम

बनाने की शक्ति प्रदान की जाए, तो वे अनुच्छेद 235 में भी वैसा ही उपबंध सम्मिलित करने में असफल नहीं रहते।”

“यह स्पष्ट हो जाने के पश्चात कि संविधान उच्च न्यायालय को जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बनाने की शक्ति प्रदान नहीं करता, अब यह विचार करना आवश्यक है कि ऐसी शक्ति अंततः किसके पास निहित है। इसका उत्तर अनुच्छेद 309 प्रदान करता है। यह उपबंध करता है कि उपयुक्त विधानमंडल द्वारा निर्मित अधिनियम, संघ अथवा किसी राज्य के कार्यों के संबंध में पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों का विनियमन कर सकते हैं। अनुच्छेद 248(3), सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 41 के साथ पठित होने पर, राज्य विधानमंडलों को ‘राज्य लोक सेवाओं’ के संबंध में विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है, जिसमें राज्य की न्यायिक सेवाएँ भी अनिवार्यतः सम्मिलित हैं। इस प्रकार अनुच्छेद 235 द्वारा उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण की शक्ति, उसी अनुच्छेद के स्पष्ट शब्दों द्वारा, राज्य विधानमंडल द्वारा न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु निर्मित विधि के अधीन कर दी गई है। स्पष्टतः संविधान-निर्माताओं ने ऐसी विधि बनाने की शक्ति को अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग के अधीन उच्च न्यायालयों की ‘नियंत्रणाधिकारिता’ पर अतिक्रमण नहीं माना। जिला न्यायालयों तथा अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय में इस उद्देश्य से निहित किया गया है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुरक्षित रह सके। राज्य की न्यायपालिका पर नियंत्रण कार्यपालिका में नहीं, बल्कि उच्च न्यायालय में निहित है। किन्तु यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि जिस संविधान ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने हेतु अत्यधिक

सावधानी बरती है, उसी संविधान ने न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों के विनियमन के संबंध में राज्य विधानमंडल की विधि-निर्माण शक्ति को उस स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं माना। केवल ऐसी विधि बनाने की शक्ति मात्र, राज्य न्यायपालिका पर उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण का अतिक्रमण नहीं है।"

"इसी परिप्रेक्ष्य में अनुच्छेद 309 का परंतुक प्रासंगिक तथा महत्वपूर्ण हो जाता है। राज्य विधानमंडल को राज्य के न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु यह आवश्यक था कि जब तक उस विषय पर विधानमंडल द्वारा विधि निर्मित न कर दी जाए, तब तक उस शक्ति के प्रयोग हेतु कोई उपयुक्त व्यवस्था की जाए। संविधान अपने उपबंधों द्वारा इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण देता है कि वह किसी प्रकार के शून्य या रिक्तता को स्वीकार नहीं करता। इसी कारण उसने ऐसी परिस्थितियों से निपटने हेतु उपबंध किए हैं, जहाँ किसी शक्ति का अंतिम धारक उस शक्ति का प्रयोग नहीं करता। अनुच्छेद 309 का परंतुक, जहाँ तक वर्तमान विषय से संबंधित है, यह उपबंध करता है कि जब तक राज्य विधानमंडल किसी विशिष्ट विषय पर विधि निर्मित नहीं कर देता, तब तक राज्यपाल को यह अधिकार होगा कि वह राज्य के न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम बनाए। अर्थात्, जहाँ विधानमंडल कोई कार्यवाही नहीं करता, वहाँ राज्यपाल उस स्थान को भरता है। इस प्रकार परंतुक के अधीन राज्यपाल द्वारा प्रयुक्त शक्ति वास्तव में वही शक्ति है जिसका प्रयोग विधानमंडल करने में सक्षम है, किन्तु जिसका उसने अभी तक प्रयोग नहीं किया है। अतः वह शक्ति कार्यपालिका संबंधी नहीं,

बल्कि विधायी शक्ति के स्वरूप एवं विशेषताओं से युक्त है। वह मूलतः विधायी शक्ति है।"

यह निर्विवाद है कि हमारे संविधान के अंतर्गत राज्यपाल के पास विधायी शक्ति निहित है, और इसलिए अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन उसकी शक्ति का विधायी प्रकृति का होना कोई असामान्य बात नहीं है। अनुच्छेद 168 के अनुसार, राज्यपाल राज्य की विधायिका का एक अंग है। राज्यपाल द्वारा विधायी शक्ति के प्रयोग का सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण अनुच्छेद 213 के अंतर्गत उसे प्रदत्त वह शक्ति है जिसके द्वारा वह विधानमंडल के सत्र में न होने की अवस्था में अध्यादेश प्रख्यापित कर सकता है। उस अनुच्छेद के अधीन वह उसी प्रकार की शक्ति का प्रयोग करता है जिसका प्रयोग सामान्यतः विधानमंडल करता है, अर्थात् विधि निर्माण की शक्ति। संविधान के भाग VI के अध्याय IV का शीर्षक, जिसमें अनुच्छेद 213 स्थित है, अत्यंत महत्वपूर्ण है— "राज्यपाल की विधायी शक्तियाँ"। अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन उपयुक्त नियम बनाने की राज्यपाल की शक्ति भी उसी प्रकृति की है। वह विधायी शक्ति है। अनुच्छेद 213 के अधीन राज्यपाल विधानमंडल का स्थान इसलिए ग्रहण करता है क्योंकि विधानमंडल अवकाशावस्था में होता है। जबकि अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन वह विधानमंडल का स्थान इसलिए ग्रहण करता है क्योंकि विधानमंडल ने उस विषय पर उपयुक्त विधि बनाने की अपनी शक्ति का अभी तक प्रयोग नहीं किया है।"

"यह सत्य है कि अनुच्छेद 309 द्वारा प्रदत्त शक्ति संविधान के उपबंधों के 'अधीन' है। किन्तु केवल इसी आधार पर यह तर्क करना त्रुटिपूर्ण है कि राज्यपाल राज्य के न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों को विनियमित करने हेतु नियम नहीं बना सकता। प्रथम, अनुच्छेद 235 के प्रथम

भाग द्वारा उच्च न्यायालयों को प्रदत्त नियंत्रण की शक्ति को उसी अनुच्छेद के द्वितीय भाग द्वारा स्पष्ट रूप से उन विधियों के अधीन कर दिया गया है जो न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों का विनियमन करती हैं। अनुच्छेद 235 का प्रथम भाग मानो एक परंतुक के अधीन है, जो उसके क्षेत्र से एक अपवाद को पृथक कर देता है। द्वितीय, समान रूप से स्पष्ट शब्दों में, अनुच्छेद 309 के परंतुक द्वारा राज्यपाल को भी इस विषय पर नियम बनाने की शक्ति प्रदान की गई है। अनुच्छेद 235 तथा 309 का संयुक्त रूप से अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित है, तथापि राज्य का उपयुक्त विधानमंडल, और जब तक वह विधानमंडल कार्यवाही न करे तब तक राज्यपाल, राज्य के न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा उनकी सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति रखते हैं। विधानमंडल अथवा राज्यपाल की यह विधायी शक्ति संविधान के अन्य सभी उपबंधों, जैसे उदाहरणार्थ अनुच्छेद 14 तथा 16, के अधीन है। हमारे समक्ष जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, वह मुख्यतः शक्ति की सीमा का नहीं, बल्कि उस शक्ति के निहित होने के स्थान का है। अनुच्छेद 235 का द्वितीय भाग राज्य के न्यायिक अधिकारियों की भर्ती तथा सेवा-शर्तों के संबंध में विधायी शक्ति को मान्यता प्रदान करता है। अनुच्छेद 309 का मूल उपबंध, उसके परंतुक सहित, उस शक्ति के निहित होने का स्थान निर्धारित करता है। अनुच्छेद 309 के प्रारंभिक शब्द उस शक्ति की व्यापकता को सीमित करते हैं।"

आगे यह भी घोषित किया गया कि सेवा-शर्तों के विनियमन हेतु विधि बनाने अथवा विधि के बल वाले नियम बनाने की मात्र शक्ति, अनुच्छेद 235 द्वारा उच्च न्यायालय में जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर निहित नियंत्रण का अतिक्रमण नहीं करती।

ऐसी विधियाँ अथवा नियम, जैसा भी मामला हो, सामान्य अथवा अमूर्त प्रकृति के नियम (उस मामले में ज्येष्ठता संबंधी नियम) निर्धारित कर सकते हैं और प्रत्येक व्यक्तिगत मामले में अवसर उत्पन्न होने पर उनका अनुप्रयोग करना उच्च न्यायालय पर छोड़ सकते हैं। अनुच्छेद 309 के प्रारंभिक शब्द— "इस संविधान के उपबंधों के अधीन"— अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग में निहित उपबंध को अपवर्जित नहीं करते। अतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि विधानमंडल अथवा राज्यपाल को सामान्य रूप से लागू होने वाले नियम बनाकर न्यायिक अधिकारियों की ज्येष्ठता विनियमित करने की शक्ति प्राप्त है, तथापि उस शक्ति का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता जिससे अनुच्छेद 235 के प्रथम भाग द्वारा उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण में हस्तक्षेप उत्पन्न हो।

पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, आदि बनाम हरियाणा राज्य और अन्य, आदि, एआईआर (1975) एससी 613 में यह प्रतिपादित किया गया कि अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायाधीश नियुक्त किए जाने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति की शक्ति राज्यपाल में निहित है। अनुच्छेद 233 में प्रयुक्त "जिला न्यायाधीश की पदस्थापना और पदोन्नति" शब्दों का अभिप्राय उन व्यक्तियों की प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा की जाने वाली प्रारंभिक नियुक्ति से है जिन्हें जिला न्यायाधीश बनाया जाना है, तथा वहाँ उल्लिखित "पदस्थापना" का अर्थ प्रारंभिक पदस्थापना है। जिला न्यायाधीशों की पदोन्नति का अर्थ भी उन व्यक्तियों की पदोन्नति से है जिन्हें जिला न्यायाधीश नियुक्त किया जाना है।

ऑल इंडिया जजेस एसोसिएशन वाद (उपरोक्त) में इस न्यायालय ने निस्संदेह यह प्रतिपादित किया—

> "न्यायिक सेवा, 'नियोजन' के अर्थ में सेवा नहीं है। न्यायाधीश कर्मचारी नहीं होते। न्यायपालिका के सदस्य होने के नाते वे राज्य की संप्रभु न्यायिक शक्ति का प्रयोग करते हैं। वे उसी प्रकार सार्वजनिक पदों के धारक हैं जैसे मंत्रिपरिषद के सदस्य तथा विधानमंडल के सदस्य। जब यह कहा जाता है कि

हमारे जैसे लोकतंत्र में कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका राज्य के तीन स्तंभ हैं, तो उसका अभिप्राय यह है कि राज्य के तीन मूलभूत कार्य राज्य के इन तीन अंगों को सौंपे गए हैं और प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में राज्य की सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु राज्य शक्ति का वास्तविक प्रयोग मंत्रीगण, विधायकगण तथा न्यायाधीश करते हैं, न कि उनके कर्मचारी, जो उनके निर्णयों को कार्यान्वित करते हैं अथवा उनके क्रियान्वयन में सहायता करते हैं। मंत्रिपरिषद अथवा राजनीतिक कार्यपालिका, उस सचिवीय अथवा प्रशासनिक तंत्र से भिन्न है जो उसके निर्णयों का पालन करता है। इसी प्रकार विधायकगण, विधानमंडलीय कर्मचारियों से भिन्न हैं। उसी प्रकार न्यायाधीश, न्यायिक कर्मचारियों से पृथक हैं। समानता राजनीतिक कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायाधीशों के बीच है, न कि न्यायाधीशों और प्रशासनिक कार्यपालिका के बीच। कुछ लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में, कुछ राज्य न्यायपालिकाओं के सदस्य उसी प्रकार निर्वाचित होते हैं जैसे विधानमंडल के सदस्य अथवा राज्य के प्रमुख। न्यायाधीश, चाहे वे किसी भी स्तर पर हों, राज्य तथा उसकी सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं; जबकि प्रशासनिक कार्यपालिका अथवा अन्य सेवाओं के सदस्य ऐसी स्थिति में नहीं होते। अतः अन्य सेवाओं के सदस्यों को न तो संवैधानिक दृष्टि से और न ही कार्यगत दृष्टि से न्यायपालिका के सदस्यों के समकक्ष रखा जा सकता।"

न्यायाधीशों और अन्य सेवाओं के सदस्यों के बीच इस भेद को एक अन्य महत्वपूर्ण कारण से भी निरंतर स्मरण रखा जाना आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता केवल उसके संबंध में औपचारिक एवं गंभीर घोषणाएँ कर देने मात्र से सुरक्षित नहीं की जा सकती। उसे वास्तविकता तथा व्यवहार— दोनों स्तरों पर सुरक्षित किया जाना आवश्यक है। यह सर्वविदित है

कि जो व्यक्ति अभावग्रस्त है, वह वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र नहीं हो सकता। आत्मनिर्भरता ही स्वतंत्रता की आधारशिला है। समाज का यह हित निहित है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे, और उसे सुरक्षित रखने के लिए कोई भी मूल्य अत्यधिक नहीं माना जा सकता। न्यायाधीशों को आवश्यक सुविधाओं एवं गरिमापूर्ण साधनों से वंचित रखना तथा इस प्रकार उन्हें अपने कर्तव्यों के समुचित निर्वहन में बाधित करना, वस्तुतः न्याय को ही दुर्बल एवं क्षीण करना है।"

किन्तु यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि उसी निर्णय में इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन कार्यपालिका तथा विधायिका को न्यायपालिका की सेवा-शर्तें निर्धारित करने हेतु प्रदत्त शक्तियों पर भी विचार किया था, यद्यपि इस तर्क को अस्वीकार करते हुए कि उस विषय में न्यायपालिका की कोई भूमिका नहीं है। यह प्रतिपादित किया गया—

"संविधान में शक्तियों के पृथक्करण तथा लोकतंत्र एवं विधि के शासन की रक्षा और संवर्धन हेतु न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए, यह आदर्श स्थिति होती कि न्यायपालिका पर कार्यपालिका तथा विधायिका की जो सबसे प्रभावशाली शक्ति है— अर्थात् उसकी सेवा-शर्तों का निर्धारण— उस पर कुछ उपयुक्त नियंत्रण एवं संतुलन भी स्थापित किए जाते। यह स्थिति तब भी आवश्यक है जब अंततः न्यायपालिका की सेवा-शर्तों को विधायी अधिनियमों में समाविष्ट एवं घोषित किया जाना हो। किन्तु केवल इस कारण कि अनुच्छेद 309 कार्यपालिका और विधायिका को न्यायपालिका की सेवा-शर्तें निर्धारित करने की शक्ति प्रदान करता है, यह नहीं माना जा सकता कि न्यायपालिका की उस विषय में कोई सहभागिता ही न हो। न्यायपालिका को इस संबंध में किसी भी भूमिका से वंचित करना संविधान की

भावना के प्रतिकूल होगा; क्योंकि सैद्धान्तिक रूप से यह असंभव नहीं है कि कार्यपालिका अथवा विधायिका उक्त शक्ति का उपयोग कर न्यायपालिका को प्रभावित अथवा नियंत्रित करने का प्रयास करे। ऐसा परिणाम संविधान के एक मूलभूत आदेश— अर्थात् न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने— के प्रतिकूल होगा।"

यह ध्यान देने योग्य है कि अखिल भारतीय न्यायाधीश संघ ने इस न्यायालय में विनिर्दिष्ट आदेश याचिका (सी) संख्या 1022/89 दायर की थी, जिसमें प्रार्थना की गई थी:

1. विभिन्न राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों में न्यायिक संवर्गों में एकरूपता स्थापित की जाए।
2. समस्त देश में न्यायिक अधिकारियों के लिए सेवानिवृत्ति की उपयुक्त एवं समान रूप से बढ़ी हुई आयु निर्धारित की जाए।
3. जहाँ तक संभव हो, समान वेतनमान निर्धारित किए जाएँ।
4. प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को आवासीय सुविधा उपलब्ध कराई जाए।
5. परिवहन सुविधा तथा वाहन भत्ता प्रदान किया जाए।
6. पुस्तकालय भत्ता, आवासीय कार्यालय भत्ता तथा आतिथ्य भत्ता आदि के रूप में पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ।
7. सेवा के दौरान प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

विधि आयोग की प्रतिवेदनों सहित विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के उपरांत इस न्यायालय ने निम्नलिखित अनुशंसाएँ एवं निर्देश दिए—

(i) अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना की जाए तथा इस संबंध में भारत संघ उपयुक्त कदम उठाए।

(ii) 31.03.1993 तक दीवानी एवं फौजदारी दोनों पक्षों में अधिकारियों के पदनामों में एकरूपता लाई जाए।

(iii) न्यायिक अधिकारियों की सेवानिवृत्ति आयु बढ़ाकर 60 वर्ष की जाए तथा इस संबंध में 31.12.1992 तक आवश्यक कदम उठाए जाएँ।

(iv) जब भी राज्यों अथवा संघ राज्य क्षेत्रों में वेतन आयोग अथवा समितियाँ गठित की जाएँ, न्यायिक अधिकारियों के उपयुक्त वेतनमान का प्रश्न विशेष रूप से उनके समक्ष विचारार्थ रखा जाए।

(v) प्रत्येक न्यायिक अधिकारी के निवास पर 30.06.1992 तक एक कार्यशील पुस्तकालय उपलब्ध कराया जाए तथा आतिथ्य भत्ते की व्यवस्था भी की जाए।

(vi) प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को आवासीय सुविधा उपलब्ध कराई जाए तथा जब तक शासकीय आवास उपलब्ध न हो, तब तक सरकार उनके लिए अधिग्रहित आवास उपलब्ध कराए, जैसा निर्देशित किया गया है, और यह कार्य 31.12.1992 तक पूर्ण किया जाए। आवास उपलब्ध कराते समय कार्यालय कक्ष की उपलब्धता का भी ध्यान रखा जाए।

(vii) प्रत्येक जिला न्यायाधीश एवं मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी को एक शासकीय वाहन उपलब्ध कराया जाए। पाँच न्यायिक अधिकारियों के समूह हेतु एक सामूहिक वाहन की व्यवस्था की जाए तथा अन्य अधिकारियों को दोपहिया वाहन क्रय करने हेतु उपयुक्त ऋण सुविधा निर्धारित समयसीमा के भीतर प्रदान की जाए।

(viii) एक वर्ष के भीतर केंद्रीय स्तर तथा राज्य अथवा संघ राज्य क्षेत्र स्तर पर सेवाकालीन प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किए जाएँ।"

यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि उक्त अनुशंसाएँ तथा निर्देश इस न्यायालय द्वारा एक विनिर्दिष्ट आदेश याचिका में जारी किए गए थे, जिसमें संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन राज्य की विधि बनाने तथा नियम निर्माण की क्षमता के संबंध में कोई आपत्ति नहीं उठाई गई थी। संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन अपनी शक्तियों के प्रयोग में यह न्यायालय,

संविधान के अनुच्छेद 141 तथा 142 द्वारा उसमें निहित अधिकारिता एवं शक्तियों से संपन्न था।

अखिल भारतीय न्यायाधीश संघ का मामला में दिए गए निर्णय ने यह प्रतिपादित किया कि न्यायालय द्वारा निर्देश जारी करने से संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन कार्यपालिका तथा विधायिका की शक्तियों पर कोई अतिक्रमण नहीं होता। न्यायालय ने वर्ष 1958 में विधि आयोग द्वारा की गई अनुशंसाओं का उल्लेख किया तथा यह अवलोकन किया कि वे अनुशंसाएँ न्याय व्यवस्था में सुधार तथा न्यायालयों द्वारा प्रदत्त न्याय की गुणवत्ता और सार्थकता को उन्नत करने के उद्देश्य से की गई थीं। यह भी अभिलिखित किया गया कि— "सुधार होने के स्थान पर स्थिति और अधिक अवनत हुई है, जिससे वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें अद्यतन एवं अधिक प्रभावी बनाना आवश्यक हो गया है।" आगे विशेष रूप से यह प्रतिपादित किया गया—

> "आक्षेपित निर्देश जारी करके इस न्यायालय ने केवल कार्यपालिका तथा विधायिका को उनके अनिवार्य दायित्वों के निर्वहन हेतु आहूत किया है। जब भी संबंधित प्राधिकरण अपने बाध्यकारी कर्तव्यों के पालन में विफल रहते हैं, न्यायालय उन्हें उनके दायित्वों के निर्वहन हेतु निर्देश जारी करते हैं। उचित मामलों में ऐसे आदेश जारी करने की शक्ति न्यायालयों में निहित है। जैसा कि पुनर्विचाराधीन निर्णय में इंगित किया गया है, इस न्यायालय को उक्त निर्देश जारी करने के लिए मुख्यतः दो कारणों से प्रेरित होना पड़ा। प्रथम, कार्यपालिका तथा विधायिका अपने संबंधित दायित्वों के निर्वहन में विफल रही थीं। द्वितीय, इस देश की न्यायपालिका न्यायिक दृष्टि से एक एकीकृत संस्था है, यद्यपि प्रशासनिक दृष्टि से नहीं। अतः समान पदनाम, समान श्रेणीबद्ध संरचना तथा समान सेवा-शर्तें उसकी अनिवार्य एवं स्वाभाविक परिणतियाँ हैं। इस कारण दिए गए आगे के निर्देशों को न्यायपालिका की सेवा-शर्तों के

निर्धारण संबंधी कार्यपालिका तथा विधायिका की शक्तियों पर अतिक्रमण के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। वे केवल दीर्घकाल से लंबित बाध्यकारी कर्तव्यों के पालन हेतु दिए गए निर्देश हैं। यह तर्क कि इस न्यायालय के निर्देश विधि परिवर्तन के संवैधानिक रूप से स्वीकृत उपायों का प्रतिस्थापन अथवा परिहार करते हैं, तब अपना बल खो देता है जब इन निर्देशों की वास्तविक प्रकृति एवं स्वरूप को समझा जाए। ये निर्देश मूलतः न्यायपालिका की सेवा-स्थितियों के संबंध में सरकार द्वारा एक उपयुक्त राष्ट्रीय नीति के विकास हेतु दिए गए हैं। जारी किए गए निर्देश मुख्य निर्देश के सहायक, आनुषंगिक तथा पूरक मात्र हैं और तब तक के लिए एक संक्रमणकालीन व्यवस्था हैं जब तक कोई व्यापक राष्ट्रीय नीति विकसित नहीं कर ली जाती। जहाँ तक ये निर्देश लागू होते हैं, वे उचित भी हैं और आवश्यक भी।"

हरि दत्त दैंथला एवं अन्य बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य एवं अन्य, ए.आई.आर. 1980 सर्वोच्च न्यायालय 1426 में इस न्यायालय ने अभिधारित किया :

"अनुच्छेद 233 राज्यपाल को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह व्यक्तियों की नियुक्ति या तो प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा अथवा न्यायिक सेवा में कार्यरत व्यक्तियों में से पदोन्नति द्वारा जिला न्यायाधीश के रूप में करे, किन्तु यह शक्ति इस शर्त से आबद्ध है कि उसका प्रयोग राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही किया जाएगा। इस परामर्श को सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए राज्यपाल को प्रत्येक व्यक्ति की जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के संबंध में, जिसमें अतिरिक्त जिला न्यायाधीश भी सम्मिलित है, उच्च न्यायालय से परामर्श करना आवश्यक है तथा उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त मत को पूर्ण महत्व दिया जाना चाहिए। अनुच्छेद 235 अधीनस्थ न्यायालयों पर, जिनमें उन न्यायालयों में कार्यरत न्यायिक अधिकारी तथा उनसे संबद्ध मंत्रीकर्मचारी

भी सम्मिलित हैं, नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित करता है। अतः जब अधीनस्थ न्यायिक सेवा से संबंधित किसी व्यक्ति को जिला न्यायाधीश के पद पर पदोन्नत किया जाना हो, तब यह निर्णय करने का अधिकार निःसंदेह उच्च न्यायालय को होगा कि वह व्यक्ति पदोन्नति के योग्य है अथवा नहीं, तथा अपने निर्णय के अनुरूप उसकी संस्तुति करनी है या नहीं करनी है। राज्यपाल, जो मंत्री की सलाह पर कार्य करेगा, उस व्यक्ति की पदोन्नति के लिए आवश्यक योग्यता एवं क्षमता के संबंध में निकट एवं प्रत्यक्ष जानकारी रखने की स्थिति में प्रायः नहीं होगा। इसी प्रकार, जब किसी व्यक्ति की अधिवक्ता वर्ग से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की जानी हो, तब अधीनस्थ न्यायिक सेवा के मामले में उच्च न्यायालय की संस्तुति को पूर्ण महत्व देने के जो कारण हैं, वे *समान रूप से यहाँ भी* लागू होंगे, क्योंकि अधिवक्ता वर्ग के किसी सदस्य की कार्यक्षमता एवं योग्यता के संबंध में उच्च न्यायालय मंत्री अथवा राज्यपाल की अपेक्षा अधिक भली-भाँति परिचित होता है। *चन्द्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* [1967] 1 एस.सी.आर. 77, पृष्ठ 83 : ए.आई.आर. 1966 सर्वोच्च न्यायालय 1987 में इस न्यायालय की संविधान पीठ ने निम्न प्रकार अभिमत व्यक्त किया था :

> 'संवैधानिक अधिदेश स्पष्ट है। राज्यपाल की नियुक्ति संबंधी शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय से परामर्श करने की शर्त से नियंत्रित है; अर्थात् वह केवल उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही किसी व्यक्ति को जिला न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर सकता है। परामर्श का उद्देश्य स्पष्ट है। यह अपेक्षित है कि न्यायिक सेवा अथवा अधिवक्ता वर्ग से संबंधित किसी व्यक्ति की जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के संबंध में उच्च न्यायालय राज्यपाल की अपेक्षा अधिक

भली-भाँति जानता होगा। इसलिए राज्यपाल पर यह दायित्व आरोपित किया गया है कि वह ऐसे निकाय से परामर्श करके नियुक्ति करे, जो उसे परामर्श देने के लिए उपयुक्त प्राधिकरण है।'"

इस दृष्टिकोण की पुनः पुष्टि *चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय,* [1970] 2 एस.सी.आर. 666 : ए.आई.आर. 1970 सर्वोच्च न्यायालय 270 में निम्नलिखित शब्दों में की गई :

"उच्च न्यायालय वह निकाय है, जो उन अधिकारियों की कार्यकुशलता एवं गुणवत्ता से निकट रूप से परिचित होता है, जो जिला न्यायाधीश के रूप में पदोन्नति पाने के योग्य होते हैं। उनके गुणों तथा अवगुणों की जानकारी केवल उच्च न्यायालय को ही होती है।"

यह भी अभिधारित किया गया कि अधीनस्थ न्यायिक सेवा में एक पद से उसी सेवा के उच्चतर पद पर पदोन्नति को विनियमित करने वाले वैधानिक नियमों के अभाव में, उच्च न्यायालय ही अनुच्छेद 235 के अंतर्गत निहित अपने नियंत्रणाधिकार का प्रयोग करते हुए उस प्रश्न का निर्णय करने वाला एकमात्र प्राधिकारी होगा, क्योंकि उक्त अनुच्छेद अधीनस्थ न्यायालयों पर उच्च न्यायालय को पूर्ण नियंत्रण प्रदान करता है। इस नियंत्रण में यह शक्ति भी निहित है कि अधीनस्थ न्यायिक सेवा में एक पद से उसी सेवा के उच्चतर पद पर पदोन्नति के लिए पात्रता का निर्धारण किया जाए; किन्तु जहाँ वास्तविक पदोन्नति प्रदान करने का चरण आता है, वहाँ अनुच्छेद 233 लागू होगा और पदोन्नति प्रदान करने की शक्ति राज्यपाल में निहित होगी, जो इस शर्त से आबद्ध है कि राज्यपाल उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात ही कार्य करेगा, जिसका अभिप्राय उच्च न्यायालय की संस्तुति पर कार्य करना समझा गया है। यदि उच्च न्यायालय यह अनुभव करे कि जिला न्यायाधीश का पद अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण है और उस पर पदोन्नति केवल योग्यता के आधार पर ही की जानी

चाहिए, तो उसके लिए आवश्यक नियमों का प्रस्ताव करना तथा उन्हें अनुच्छेद 309 के अंतर्गत अधिनियमित कराना उसका कर्तव्य होगा।

चन्द्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य एवं अन्य, [1967] 1 एस.सी.आर. 77 में इस न्यायालय ने अभिधारित किया कि संविधान राज्यों में एक स्वतंत्र न्यायपालिका की परिकल्पना करता है और अधीनस्थ न्यायपालिका की स्वतंत्रता को संदेह से परे रखने के उद्देश्य से नीति-निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 50 में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने का उपबंध किया गया है तथा संविधान के अध्याय VI में अनुच्छेद 233 से 237 अधिनियमित कर ऐसी स्वतंत्रता को सुरक्षित किया गया है। इन अनुच्छेदों के अधीन किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा दो स्रोतों से की जानी है, अर्थात् : (i) संघ अथवा राज्य की सेवा से, तथा (ii) अधिवक्ता वर्ग से। "संघ अथवा राज्य की सेवा" शब्दों का अर्थ संघ या राज्य की कोई अन्य सेवा नहीं, बल्कि केवल न्यायिक सेवा है, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 236(ख) में परिभाषित किया गया है। इस न्यायालय ने विशेष रूप से यह अभिमत व्यक्त किया :

> "किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों के रूप में व्यक्तियों की नियुक्ति तथा उनका पदस्थापन और पदोन्नति राज्यपाल द्वारा की जाएगी। भर्ती के दो स्रोत हैं, अर्थात् : (i) संघ अथवा राज्य की सेवा, और (ii) अधिवक्ता वर्ग। प्रथम स्रोत से संबंधित न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जाती है तथा द्वितीय स्रोत से संबंधित व्यक्तियों की नियुक्ति उच्च न्यायालय की संस्तुति पर की जाती है। परंतु जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त न्यायिक सेवा में अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उसके द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार, उच्च न्यायालय एवं लोक सेवा आयोग से परामर्श करके की जाएगी। तथापि, कुछ निर्धारित सीमाओं के अधीन, सभी जिला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय का होगा।"

अब तक किसी प्रकार का विवाद नहीं है। किन्तु वास्तविक विवाद इस प्रश्न पर आधारित है कि क्या राज्यपाल न्यायिक सेवा के अतिरिक्त अन्य सेवाओं से व्यक्तियों को जिला न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है; अर्थात् क्या वह पुलिस, आबकारी, राजस्व अथवा ऐसी किसी अन्य सेवा में कार्यरत व्यक्ति को जिला न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है? इस प्रकार की स्थिति को स्वीकार करना हमें पुनः स्वतंत्रता-पूर्व काल में, और वह भी देशी रियासतों में प्रचलित परिस्थितियों की ओर ले जाएगा। देशी रियासतों में न्यायिक सेवा में पुलिस तथा अन्य विभागों से नियुक्तियाँ किया जाना सामान्य बात थी। इससे संविधान की सुव्यवस्थित योजना तथा उसके मूल सिद्धांत — कि न्यायपालिका एक स्वतंत्र सेवा होगी — पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। निस्संदेह, यदि अनुच्छेद 233(1) अकेला ही होता, तो यह तर्क दिया जा सकता था कि राज्यपाल किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह विधिक रूप से योग्य हो या नहीं, यदि वह राज्य की किसी सेवा में है, जिला न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। परंतु अनुच्छेद 233(1) केवल जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में राज्यपाल की सामान्य शक्ति की उद्घोषणा मात्र है। वह न तो नियुक्त किए जाने वाले अभ्यर्थियों की योग्यताओं का निर्धारण करता है और न ही भर्ती के स्रोतों का उल्लेख करता है। भर्ती के स्रोत उसके खंड (2) में निर्दिष्ट किए गए हैं। अनुच्छेद 233 के खंड (2) के अंतर्गत दो स्रोत बताए गए हैं, अर्थात् : (i) संघ अथवा राज्य की सेवा में कार्यरत व्यक्ति, तथा (ii) अधिवक्ता या प्लीडर। अब प्रश्न यह है कि संविधान के भाग VI के अध्याय VI के संदर्भ में "संघ अथवा राज्य की सेवा" का अभिप्राय क्या संघ या राज्य की कोई भी सेवा है, अथवा उसका अभिप्राय संघ या राज्य की न्यायिक सेवा है? जिस संदर्भ में "सेवा" शब्द प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित अध्याय

में, वह इस ओर संकेत करता है कि वहाँ उल्लिखित सेवा न्यायालयों से संबंधित सेवा ही है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 236(ख) "न्यायिक सेवा" की परिभाषा इस प्रकार देता है कि वह ऐसी सेवा है जिसमें विशेष रूप से वे व्यक्ति सम्मिलित हों जो जिला न्यायाधीश तथा उससे निम्न श्रेणी के अन्य दीवानी न्यायिक पदों को भरने के लिए अभिप्रेत हों। यदि यह परिभाषा अनुच्छेद 236 में न होकर अनुच्छेद 233(2) से पूर्व एक उपबंध के रूप में रखी गई होती, तो इस विषय में कोई विवाद नहीं रह जाता कि अनुच्छेद 233(2) में प्रयुक्त "सेवा" शब्द का अभिप्राय केवल न्यायिक सेवा है। केवल इस कारण कि "न्यायिक सेवा" की परिभाषा बाद के अनुच्छेद में दी गई है, इससे विपरीत निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यह तथ्य कि अनुच्छेद 233(2) में "सेवा" शब्द प्रयुक्त हुआ है, जबकि अनुच्छेद 234 एवं 235 में "न्यायिक सेवा" शब्द प्रयुक्त हुआ है, इस प्रश्न का निर्णायक आधार नहीं हो सकता कि अनुच्छेद 233(2) में प्रयुक्त "सेवा" का अभिप्राय न्यायिक सेवा से भिन्न कुछ और है, क्योंकि पूरा अध्याय ही न्यायिक सेवा से संबंधित है। यह परिभाषा उस सेवा का संपूर्ण एवं परिपूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है। परिभाषा में प्रयुक्त दो शब्द — "विशेष रूप से" तथा "अभिप्रेत" — इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि न्यायिक सेवा न्यायिक अधिकारियों की एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है, जो निम्नतम स्तर से प्रारंभ होकर जिला न्यायाधीश तक जाती है। "विशेष रूप से" तथा "अभिप्रेत" शब्द इस बात पर बल देते हैं कि न्यायिक सेवा केवल उन्हीं व्यक्तियों से मिलकर बनेगी जो जिला न्यायाधीशों तथा अन्य दीवानी न्यायिक पदों को भरने के लिए नियत हों, और यही न्यायिक अधिकारियों की विशिष्ट एवं पृथक सेवा है। 'न्यायिक सेवा' को विशिष्ट एवं अनन्य शब्दों में परिभाषित करने के पश्चात, उस सेवा में नियुक्ति

की व्यवस्था करने तथा उस सेवा पर नियंत्रण उच्च न्यायालय को सौंप देने के उपरांत, संविधान-निर्माताओं ने राज्यपाल को यह असीमित शक्ति प्रदान नहीं की कि वह किसी भी सेवा से किसी भी व्यक्ति को जिला न्यायाधीश नियुक्त कर सके।

यह तर्क समर्थनार्थ कि अनुच्छेद 233(2) में प्रयुक्त 'सेवा' से अभिप्राय राज्य की किसी भी सेवा से है, इस न्यायालय के निर्णय *रमेश्वर दयाल बनाम पंजाब राज्य,* [1961] 2 एस.सी.आर. 874 पर निर्भरता व्यक्त की गई। उस प्रकरण में प्रश्न यह था कि क्या पूर्वी पंजाब उच्च न्यायालय में अधिवक्ताओं की सूची में नामांकित व्यक्ति को जिला न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है। उस निर्णय में न्यायमूर्ति एस. के. दास ने न्यायालय की ओर से कहा था :

> "अनुच्छेद 233 जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में एक पूर्ण एवं स्वायत्त उपबंध है। जहाँ तक ऐसे व्यक्ति का प्रश्न है जो पहले से संघ या राज्य की सेवा में है, उसके लिए कोई विशेष अर्हता निर्धारित नहीं की गई है और खंड (1) के अंतर्गत राज्यपाल, संबंधित उच्च न्यायालय से परामर्श करके, ऐसे व्यक्ति को जिला न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। जहाँ तक ऐसे व्यक्ति का संबंध है जो पूर्व से सेवा में नहीं है, उसके लिए खंड (2) में अर्हता निर्धारित की गई है और केवल यह अपेक्षित है कि वह सात वर्ष की अवधि का अधिवक्ता या वकील रहा हो।"

उपरोक्त अवतरण वस्तुतः केवल संबंधित संवैधानिक उपबंधों का संक्षिप्त सार है। उस प्रकरण में यह प्रश्न विचारार्थ नहीं था कि अनुच्छेद 233(2) में प्रयुक्त 'सेवा' से अभिप्राय संघ अथवा राज्य की कोई भी सेवा है या नहीं, और न ही न्यायालय ने उस विषय पर कोई मत व्यक्त किया था।

अतः हम अनुच्छेद 233 के खंड (2) में प्रयुक्त 'सेवा' शब्द का अर्थ 'न्यायिक सेवा' ही मानते हैं।"

इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि अनुच्छेद 309 के अंतर्गत विधायिका एवं कार्यपालिका को प्रदत्त शक्ति उस अनुच्छेद के प्रारंभिक शब्दों द्वारा सीमित है। विधायिका अथवा कार्यपालिका ऐसा कोई कानून अधिनियमित नहीं कर सकती और न ही ऐसा कोई नियम बना सकती है, जो संविधान के किसी अन्य उपबंध का उल्लंघन करता हो। यदि कोई कानून अथवा नियम संविधान के किसी अन्य उपबंध, जिनमें अनुच्छेद 14, 15, 16, 19, 124, 217, 233, 234 तथा 235 भी सम्मिलित हैं, के प्रतिकूल बनाया जाता है, तो ऐसा कानून अथवा नियम शून्य होगा। किन्तु, यह अनुच्छेद विधायिका अथवा कार्यपालिका को उन विषयों के संबंध में उपबंध करने से वंचित नहीं करता, जो संविधान के अन्य उपबंधों द्वारा आच्छादित क्षेत्र में नहीं आते। संविधान के विभिन्न उपबंधों, जिनमें भाग III, अध्याय VI; भाग XIV, अध्याय I; तथा भाग XI, अध्याय I को सप्तम अनुसूची सहित पढ़ा जाना आवश्यक है, का संयुक्त एवं सामंजस्यपूर्ण रूप से अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए, ताकि राज्य के विभिन्न अंग अपने-अपने क्षेत्राधिकार में संविधान द्वारा आरोपित सीमाओं के अधीन कार्य कर सकें, जिनमें न्यायालयों की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति भी सम्मिलित है। अतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि न्यायिक सेवा ऐसी पूर्णतः स्वतंत्र सेवा है, जो राज्य विधायिका और कार्यपालिका को उन विषयों के संबंध में कानून बनाने अथवा नियम बनाने से वंचित कर दे, जिनका उल्लेख अनुच्छेद 309 में है, किन्तु जो संविधान के अनुच्छेद 233 से 236 के अधीन आच्छादित नहीं हैं। भाग III के अध्याय VI तथा भाग XIV के अध्याय I के उपबंधों को परस्पर पूरक एवं सहायक रूप में समझा जाना चाहिए। अनुच्छेद 309 के अंतर्गत शक्ति का प्रयोग इस संवैधानिक आदेश द्वारा और अधिक सीमित किया गया है कि ऐसा कोई कानून अधिनियमित न किया जाए और न ही ऐसा कोई नियम बनाया जाए, जो किसी भी प्रकार से देश में स्वतंत्र न्यायपालिका के कार्यकरण को प्रभावित करता हो।

किन्तु, ऐसे सिद्धांत उच्च न्यायपालिका के मामले में लागू नहीं होंगे, जो संविधान के भाग V, अध्याय IV तथा भाग VI, अध्याय V के अंतर्गत स्थापित एवं गठित की गई है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय तथा देश के उच्च न्यायालय संविधान की सृष्टि हैं और उन न्यायालयों की अध्यक्षता करने वाले न्यायाधीश संवैधानिक पदाधिकारी हैं। अतः उच्च न्यायपालिका को संविधान के भाग XIV, अध्याय I में अभिप्रेत "लोक सेवाओं" के समकक्ष नहीं माना जा सकता।

सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्ति हेतु पात्रता की शर्तें संविधान के अनुच्छेद 124 में तथा उच्च न्यायालय के लिए अनुच्छेद 217 में विनिर्दिष्ट हैं। यदि इन शर्तों को अनुच्छेद 309 के अधीन विधायी उपाय द्वारा परिवर्तित, संशोधित अथवा प्रतिस्थापित किए जाने की अनुमति दी जाए, तो संघ तथा राज्यों की न्यायपालिका निष्प्रभावी हो जाएगी, जो उसकी स्वतंत्रता को क्षीण कर देने तथा उसके संवैधानिक स्वरूप को नष्ट कर देने के समान होगा, जैसा कि संविधान-निर्माताओं द्वारा परिकल्पित किया गया था। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति संबंधी शर्तें संभवतः संवैधानिक संशोधन द्वारा भी परिवर्तनीय नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि ऐसा किया जाना भारतीय न्यायपालिका की संरचना से छेड़छाड़ करने तथा परिणामस्वरूप संविधान की मूल संरचना पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला हो सकता है। संविधान एक एकीकृत न्यायपालिका, मूल विधियों—दीवानी एवं दाण्डिक—में एकरूपता तथा महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति हेतु अखिल भारतीय सेवा की परिकल्पना करता है। संवैधानिक व्यवस्था के स्वरूप पर संविधान सभा में 4 नवम्बर 1948 को अपने भाषण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा था :

> "द्वैध न्यायपालिका, विधियों की द्वैध व्यवस्था तथा लोक सेवाओं की द्वैध संरचना—जैसा कि मैंने कहा है—संघीय शासन व्यवस्था के स्वाभाविक परिणाम हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय न्यायपालिका तथा राज्य न्यायपालिका परस्पर पृथक एवं स्वतंत्र हैं। किन्तु भारतीय संघ, यद्यपि द्वैध शासन-व्यवस्था

पर आधारित है, तथापि यहाँ द्वैध न्यायपालिका का अस्तित्व नहीं है। उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय मिलकर एक एकीकृत न्यायिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जिन्हें संवैधानिक विधि, दीवानी विधि अथवा दाण्डिक विधि से उत्पन्न सभी विवादों में अधिकारिता प्राप्त है तथा वे सभी मामलों में उपचार उपलब्ध कराते हैं। (संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 7 (1948-49), पृष्ठ 34, 36-37)"

इस न्यायालय ने *एस. पी. गुप्ता* प्रकरण (उपर्युक्त) में कहा था :

> "संविधान तथा अन्य प्रासंगिक विधियों के विभिन्न उपबंधों का परीक्षण यह प्रदर्शित करता है कि भारत का प्रत्येक उच्च न्यायालय भारतीय न्यायपालिका की एकीकृत संरचना का अभिन्न अंग है, और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, यद्यपि उनकी नियुक्ति के समय परामर्श हेतु अपेक्षित प्राधिकारियों में कुछ सीमित भिन्नता हो सकती है, तथापि एक ही न्यायिक परिवार के सदस्य हैं। उच्च न्यायालयों से संबंधित उपबंध संविधान के भाग VI के अध्याय V में निहित हैं, जो राज्यों से संबंधित प्रावधानों का विनियमन करता है, तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का वेतन उस राज्य अथवा उन राज्यों की निधियों से देय होता है, जिन पर वह न्यायालय अधिकारिता का प्रयोग करता है। फिर भी यह कहना कठिन है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय अन्य उच्च न्यायालयों से पूर्णतः स्वतंत्र है।
>
> उस अध्याय के अन्य उपबंधों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि जहाँ तक उच्च न्यायालयों के संगठन का प्रश्न है, राज्य विधानमंडलों तथा राज्य सरकारों की भूमिका अत्यंत सीमित है।"

उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश न तो किसी एक अखिल भारतीय संवर्ग का निर्माण करते हैं और न ही वे ऐसी 'न्यायिक सेवा' का भाग हैं, जिसे संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन

विधायिका के नियंत्रण के अधीन किया जा सके। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण संबंधी प्रकरण में न्यायमूर्ति भगवती (जैसा कि उस समय वे थे) ने कहा था :"..... भारत जैसे देश में, जो लोकतंत्र और विधि के शासन के ध्वज तले सामाजिक न्याय की दिशा में अग्रसर है, न्यायपालिका का स्वतंत्र होना अत्यावश्यक है, क्योंकि न्यायपालिका की स्वतंत्रता का सिद्धांत कोई अमूर्त अवधारणा नहीं, बल्कि एक जीवंत आस्था है, जिसे अपनी प्रेरणा संविधान से तथा अपना पोषण एवं संबल संवैधानिक मूल्यों से प्राप्त होना चाहिए। प्रत्येक न्यायाधीश के लिए यह निरंतर स्मरण रखना आवश्यक है कि हमारा संविधान कोई तटस्थ एवं निरपेक्ष विधिक दस्तावेज नहीं है। यह सामाजिक क्रांति का एक अभिलेख है, जो न्यायपालिका सहित राज्य की प्रत्येक संस्था पर यह दायित्व आरोपित करता है कि वह *पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था* को परिवर्तित कर ऐसी नवीन मानवीय व्यवस्था स्थापित करे, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं का आधार बने तथा सभी व्यक्तियों को समान प्रतिष्ठा और अवसर प्राप्त हों। अतः न्यायपालिका का एक सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य तथा सृजनात्मक दायित्व है। ग्लेनविल ऑस्टिन के शब्दों में, उसे सामाजिक-आर्थिक क्रांति का एक साधन बनना होगा तथा ऐसी सक्रिय भूमिका निभानी होगी, जो सामाजिक न्याय को सामान्य जन तक पहुँचाने में सहायक हो। वह केवल निष्पक्ष निर्णायक बनकर संतुष्ट नहीं रह सकती, बल्कि उसे सामाजिक-आर्थिक न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति में कार्यात्मक रूप से संलग्न होना होगा।" इन अपीलों में, अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ताओं ने भी अधीनस्थ न्यायपालिका की तुलना उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से युक्त विशिष्ट एवं स्वतंत्र उच्च न्यायपालिका से करने का प्रयास नहीं किया। उत्तरदाताओं की ओर से यह आशंका व्यक्त की गई कि यदि बिहार अधिनियम जैसे कानून बनाने की अनुमति दे दी गई, तो संघीय विधायिका भविष्य में कानून अथवा संवैधानिक संशोधन के माध्यम से उच्च न्यायपालिका में भी आरक्षण का प्रावधान कर सकती है, जिससे उस पर नियंत्रण स्थापित कर न्यायपालिका

की स्वतंत्रता को नष्ट किया जा सके। यह आशंका स्पष्टतः भ्रांतिपूर्ण होने के साथ-साथ अत्यन्त दूर की और काल्पनिक प्रतीत होती है।

वर्तमान अपीलों में हमारे समक्ष संबंधित सभी पक्षों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि जिला न्यायाधीशों के पदों पर नियुक्तियाँ बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा नियमावली, 1951 (जिसे आगे "1951 नियमावली" कहा गया है) द्वारा शासित हैं, जिन्हें निर्विवाद रूप से बिहार के राज्यपाल द्वारा संविधान के अनुच्छेद 309 के प्रावधान के साथ पठित अनुच्छेद 233 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए बनाया गया था। संविधान के अनुच्छेद 233 का उल्लेख केवल यह इंगित करता है कि नियम बनाए जाने से पूर्व उच्च न्यायालय से परामर्श किया गया था। स्वयं अनुच्छेद 233 न तो राज्यपाल द्वारा और न ही उच्च न्यायालय द्वारा नियम बनाए जाने की परिकल्पना करता है। 1951 नियमावली का नियम 5 यह उपबंधित करता है कि बिहार उच्चतर न्यायिक सेवा में नियुक्ति, प्रथम अवसर पर, सामान्यतः अपर जिला एवं सत्र न्यायाधीश के पद पर की जाएगी और ऐसी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय से परामर्श करके की जाएगी।

> "(क) संविधान के अनुच्छेद 233 के खंड (2) के अधीन नियुक्ति के लिए अर्ह तथा उच्च न्यायालय द्वारा अनुशंसित व्यक्तियों में से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा; अथवा
>
> (ख) बिहार न्यायिक सेवा के सदस्यों में से पदोन्नति द्वारा।"

सेवा संवर्ग के पदों में से 2/3 पद पदोन्नति द्वारा तथा 1/3 पद प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरे जाने हैं। राज्य सरकार, उच्च न्यायालय से परामर्श करके, उक्त अनुपात में किसी भी दिशा में परिवर्तन कर सकती है। नियम 3 को अनुसूची के साथ पढ़ने पर सेवा की स्वीकृत संख्या का प्रावधान किया गया है, जबकि अन्य उपबंध पदोन्नति, वेतन, भत्तों तथा वरिष्ठता से संबंधित हैं। इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि ये नियम बनाए जाने के पश्चात् लगभग आधी शताब्दी से आज तक लागू हैं तथा उन पर अमल किया जाता रहा है। अतः उच्च न्यायालय का यह कहना उचित नहीं था कि अनुच्छेद 309 के अधीन बनाया गया कानून न्यायिक सेवा

पर लागू नहीं होगा। जब अनुच्छेद 309 के अधीन कार्यपालिका द्वारा बनाए गए नियम न्यायिक सेवा पर लागू किए गए तथा उन पर अमल भी किया गया, तब संविधान के अनुच्छेद 309 के प्रथम भाग के अधीन विधानमंडल की उस संप्रभु शक्ति पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती जिसके द्वारा वह न्यायिक सेवा के संबंध में विधि बना सके।

यह भी स्वीकार किया गया है कि जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त न्यायिक सेवा के अन्य पदों पर नियुक्तियों के लिए राज्यपाल ने संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, पटना उच्च न्यायालय तथा बिहार लोक सेवा आयोग से परामर्श के पश्चात् "बिहार न्यायिक सेवा (भर्ती) नियमावली, 1955" (जिसे आगे "1955 नियमावली" कहा गया है) बनाई। उक्त नियमावली का नियम 2 यह उपबंधित करता है कि मुंसिफ के पद पर भर्ती नियमों के अनुसार की जाएगी तथा अधीनस्थ न्यायाधीश के पद पर भर्ती उच्च न्यायालय द्वारा उन मुंसिफों में से पदोन्नति के माध्यम से की जाएगी जिन्हें नियम 24 के अधीन पुष्टि प्रदान की गई हो तथा नियम 26 के अधीन नियुक्त किया गया हो। नियम 3 राज्यपाल को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह प्रत्येक वर्ष यह निर्धारित करे कि मुंसिफ के पद में कितनी रिक्तियाँ स्थायी आधार पर अथवा अस्थायी आधार पर, या दोनों प्रकार से, नियुक्ति द्वारा भरी जाएँगी। बिहार लोक सेवा आयोग पर यह दायित्व डाला गया है कि वह प्रत्येक वर्ष, अपने द्वारा उपयुक्त समझे गए तरीके से, उन रिक्तियों की संख्या की घोषणा करे जिन्हें उस वर्ष प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरा जाना है, और जिनके लिए नियमों के अधीन नियुक्ति हेतु पात्र अभ्यर्थियों से आवेदन आमंत्रित किए जाने हैं। आयोग को यह शक्ति प्राप्त है कि वह किसी विशेष वर्ष में लिखित परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए अभ्यर्थियों की पात्रता की सीमा निर्धारित करे। यदि अभ्यर्थियों की संख्या निर्धारित सीमा से अधिक हो जाए, तो आयोग उनके शैक्षणिक अभिलेखों के आधार पर लिखित परीक्षा हेतु अभ्यर्थियों का प्रारंभिक चयन कर सकता है। अनुसूचित जातियों अथवा अनुसूचित

जनजातियों का कोई भी अभ्यर्थी, जो अन्यथा नियमों के अधीन पात्र हो, लिखित परीक्षा में सम्मिलित होने से वंचित नहीं किया जा सकता। नियम 6 यह उपबंधित करता है :

> "6. कोई अभ्यर्थी स्त्री अथवा पुरुष, किसी भी लिंग का हो सकता है, तथा उसे —
>
> (क) उस वर्ष से पूर्ववर्ती वर्ष की 1 अगस्त को 22 वर्ष से अधिक तथा 31 वर्ष से कम आयु का होना चाहिए, जिस वर्ष परीक्षा आयोजित की जाए :
>
> परंतु यह कि अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति से संबंधित अभ्यर्थी उक्त तिथि को 22 वर्ष से अधिक तथा 36 वर्ष से कम आयु का होना चाहिए : परंतु यह भी कि जो अभ्यर्थी अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति से संबंधित नहीं है, उसे परीक्षा में पाँच अवसरों से अधिक सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दी जाएगी;
>
> (ख) वह राज्यपाल द्वारा मान्यता प्राप्त किसी विश्वविद्यालय से विधि स्नातक हो, अथवा बैरिस्टर-एट-लॉ, अथवा स्कॉटलैंड के अधिवक्ता संकाय का सदस्य, अथवा किसी उच्च न्यायालय की अधिवक्ताओं की सूची में नामांकित अधिवक्ता हो, अथवा ऐसी अन्य शैक्षणिक अर्हता रखता हो जिसे राज्यपाल, उच्च न्यायालय तथा आयोग से परामर्श के पश्चात्, उपर्युक्त अर्हताओं के समतुल्य घोषित करे; तथा
>
> (ग) विज्ञापन की तिथि को बार में कम-से-कम एक वर्ष की निरंतर प्रैक्टिस रखने वाला विधि व्यवसायी हो।"

नियम 6क यह उपबंधित करता है कि जिस व्यक्ति की एक से अधिक पत्नियाँ जीवित हों, वह सेवा में नियुक्ति के लिए पात्र नहीं होगा। नियम 7 के अनुसार अभ्यर्थी का स्वास्थ्य उत्तम, शरीर सुदृढ़, आदतें सक्रिय तथा वह ऐसे किसी शारीरिक दोष से मुक्त होना चाहिए जो सेवा के सदस्य के रूप में उसके कर्तव्यों के दक्षतापूर्वक निर्वहन में बाधा उत्पन्न कर सकता

हो। नियम 9 में वर्णित आवश्यक दस्तावेज अभ्यर्थी को अपने आवेदन-पत्र के साथ प्रस्तुत करने होते हैं। परीक्षा, नियमावली के परिशिष्ट 'ग' में निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के अनुसार आयोजित की जानी है, जिसमें समय-समय पर सरकार द्वारा, उच्च न्यायालय तथा आयोग से परामर्श के पश्चात्, परिवर्तन किया जा सकता है। आयोग को यह विवेकाधिकार प्राप्त है कि वह लिखित परीक्षा में किसी एक अथवा सभी विषयों के लिए, पटना उच्च न्यायालय से परामर्श करके, न्यूनतम अर्हता अंक निर्धारित करे। यदि नियम 19 के अधीन प्रस्तुत नामावली में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों की पर्याप्त संख्या सम्मिलित न हो, तो आयोग ऐसी अनुपूरक सूची प्रस्तुत करेगा जिसमें ऐसे पर्याप्त संख्या में अभ्यर्थियों को नामित किया जाएगा, जो आयोग की राय में अपेक्षित अर्हता स्तर प्राप्त करते हों तथा प्रत्येक दृष्टि से सेवा में नियुक्ति के लिए उपयुक्त हों। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए न्यूनतम अर्हता अंक 35 प्रतिशत से अधिक नहीं होंगे, जब तक कि अन्य अभ्यर्थियों पर लागू मानकों के अनुसार लिखित परीक्षा में सफल ऐसे अभ्यर्थियों की संख्या, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित रिक्तियों को भरने हेतु आवश्यक संख्या से पर्याप्त रूप से अधिक न हो। आयोग पर यह दायित्व है कि वह लिखित परीक्षा हेतु निर्धारित विधि विषयों के परीक्षकों के चयन के संबंध में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करे। अभ्यर्थियों की मौखिक परीक्षा नियम 17 के अधीन आयोजित की जानी है। मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह मौखिक परीक्षा में उच्च न्यायालय का प्रतिनिधित्व करने हेतु किसी अधिकारी को नामित करें। नियम 20 यह उपबंधित करता है कि आयोग, अपनी अनुशंसाएँ प्रस्तुत करते समय, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के योग्य अभ्यर्थियों के दावों पर विचार करेगा। यदि नियम 19 के अधीन प्रस्तुत नामावली में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों की पर्याप्त संख्या सम्मिलित न हो, तो आयोग ऐसी अनुपूरक सूची प्रस्तुत करेगा जिसमें ऐसे

पर्याप्त संख्या में अभ्यर्थियों को नामित किया जाएगा, जो आयोग की राय में अपेक्षित अर्हता स्तर प्राप्त करते हों तथा प्रत्येक दृष्टि से सेवा में नियुक्ति के लिए उपयुक्त हों।

हमारे समक्ष यह स्वीकार किया गया है कि नियम 20 को प्रभावी बनाने के लिए आयोग तथा उच्च न्यायालय समय-समय पर जारी सरकारी आदेशों के अनुसार कार्य करते रहे हैं, जिनके द्वारा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में 24% तक आरक्षण प्रदान किया गया था। यह निर्विवाद है कि 1955 नियमावली संविधान के अनुच्छेद 234 की आवश्यकताओं के पूर्ण अनुपालन में, उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से विधिवत् परामर्श के पश्चात् बनाई गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि विवाद केवल उस समय उत्पन्न हुआ जब राज्य सरकार ने उच्च न्यायिक सेवा में आरक्षण लागू करने पर बल दिया, जिसका उच्च न्यायालय द्वारा प्रबल विरोध किया गया।

"बिहार राज्य बनाम दीपक सिंह और अन्य" शीर्षक अपील में प्रकट तथ्यों से ज्ञात होता है कि दिनांक 30.1.1991 को राज्य सरकार ने न्यायिक सेवा में आरक्षण लागू करने के संबंध में उच्च न्यायालय तथा बिहार लोक सेवा आयोग से परामर्श किया। लोक सेवा आयोग ने अपने पत्र संख्या 112 दिनांक 30.1.1991 द्वारा प्रस्तावित संशोधन के संबंध में अपनी सहमति प्रेषित कर दी। तथापि, उच्च न्यायालय ने ज्ञापन संख्या 5999 दिनांक 16.4.1991 के माध्यम से सरकार को सूचित किया कि — "न्यायपालिका के हित में न्यायालय राज्य सरकार के प्रस्ताव से सहमत होने में असमर्थ है।" राज्य सरकार, उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग के मध्य हुए उक्त पत्राचार से स्पष्टतः यह परिलक्षित होता है कि राज्य सरकार संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल में निहित शक्तियों के प्रयोग से पूर्वनिर्मित नियमों में संशोधन करना चाहती थी। उच्च न्यायालय द्वारा, जो कि अनुच्छेद 234 के अधीन परामर्शदाता प्राधिकरणों में से एक था, विरोध किए जाने के कारण बिहार राज्य ने संविधान के अनुच्छेद 213 के अधीन "बिहार रिक्तियों एवं सेवाओं में आरक्षण (अनुसूचित जातियों,

अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए) अध्यादेश, 1991" नामक अध्यादेश प्रख्यापित करने का मार्ग अपनाया। उक्त अध्यादेश के स्थान पर तत्पश्चात बिहार अधिनियम संख्या 3, वर्ष 1992 लागू किया गया, जिसे तत्काल प्रभाव से प्रवर्तित किया गया, केवल धारा 4 को छोड़कर, जिसे 1 नवम्बर 1994 से प्रभावी घोषित किया गया। उक्त आरक्षण अध्यादेश को दीवानी विनिर्दिष्ट आदेश अधिकारिता वाद संख्या 7619/91 में चुनौती दी गई। साथ ही, दिनांक 1.10.1990 के उस पत्र की वैधता को भी चुनौती दी गई, जिसके द्वारा निर्देश जारी किए गए थे कि 24वीं न्यायिक प्रतियोगिता परीक्षा की रिक्तियाँ उक्त अध्यादेश के अनुसार भरी जाएँ। उक्त विनिर्दिष्ट आदेश याचिका के लंबित रहने के दौरान अध्यादेश का स्थान अधिनियम संख्या 3, वर्ष 1992 ने ले लिया। उच्च न्यायालय ने इस अपील में आक्षेपित आदेश पारित करते हुए विनिर्दिष्ट आदेश याचिका स्वीकार कर ली तथा यह घोषित किया कि आक्षेपित अध्यादेश/अधिनियम तथा दिनांक 1.10.1990 का पत्र, जहाँ तक उनका न्यायिक सेवा पर लागू होना संबंधित है, संविधान के अनुच्छेद 234 के उपबंधों के प्रतिकूल तथा *अधिकारातीत* हैं।

इसी प्रकार दीवानी अपील संख्या 9072/96 में प्रकट तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि जब दिनांक 13.10.1993 को राज्य सरकार ने निर्देशों के अनुसार अतिरिक्त जिला न्यायाधीशों के रिक्त पदों को नवीन विज्ञापन के माध्यम से भरने का निर्णय लिया, तब राज्य सरकार ने दिनांक 16.11.1993 को उच्च न्यायालय से अनुरोध किया कि वर्ष 1991 के अधिनियम के प्रावधानों के अनुरूप वर्गवार रिक्तियाँ प्रेषित की जाएँ। दिनांक 16.12.1993 को उच्च न्यायालय ने राज्य सरकार को सूचित किया कि 1951 के नियमों के नियम 5(क) एवं 6 के अधीन नया विज्ञापन जारी किया जाए। साथ ही यह भी अनुशंसा की गई कि अभ्यर्थियों के लिए न्यूनतम आयु 35 वर्ष तथा अधिकतम आयु 50 वर्ष निर्धारित की जाए। उच्च न्यायालय ने राज्य सरकार को यह भी अवगत कराया कि वर्ष 1991 का अधिनियम अधिवक्ताओं में से प्रत्यक्ष भर्ती के मामलों में न तो लागू होगा और न ही उसका पालन

किया जाएगा। जाति, धर्म अथवा लिंग के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कोई वरीयता प्रदान न की जाए। दिनांक 4.1.1994 को राज्य सरकार ने उच्च न्यायालय को सूचित किया कि वर्ष 1991 के अधिनियम के प्रावधान बिहार राज्य की उच्च न्यायिक सेवा में नियुक्तियों पर भी लागू होंगे। उच्च न्यायालय से अनुरोध किया गया कि वह आरक्षण के अनुसार रिक्तियों का विवरण प्रेषित करे। दिनांक 25.2.1994 को बिहार सरकार के मुख्य सचिव की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय बैठक आयोजित की गई, जिसमें विधि सचिव तथा उच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार ने भी भाग लिया। इस बैठक में उच्च न्यायालय से यह अनुरोध किया गया कि आरक्षण अधिनियम के अनुसार अद्यतन रिक्तियों का विवरण भेजा जाए, क्योंकि ऐसा आशंकित था कि अनुपालन न करने पर उक्त अधिनियम के अधीन अपराध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। उच्च न्यायालय ने दिनांक 5 अप्रैल, 1994 को अपने पूर्ववर्ती दृष्टिकोण को पुनः दोहराया तथा बिहार सरकार के अपर सचिव को संबोधित पत्र द्वारा सूचित किया :

> "उपरोक्त विषयक आपके उल्लिखित पत्र के संदर्भ में मुझे यह कहने का निर्देश हुआ है कि राज्य सरकार को न्यायालय द्वारा पारित उस प्रस्ताव से पूर्व ही अवगत करा दिया गया है, जिसके अनुसार अधिवक्ता वर्ग से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में योग्यता ही एकमात्र मापदण्ड होगी तथा जाति, धर्म अथवा लिंग के आधार पर किसी भी अभ्यर्थी को कोई वरीयता प्रदान नहीं की जाएगी। न्यायालय द्वारा पारित प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि न्यायालय, "बिहार रिक्तियों एवं सेवाओं में आरक्षण (अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग हेतु) अधिनियम, 1991" के प्रावधानों को स्वीकार किए बिना भी, अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति के किसी अभ्यर्थी को वरीयता देने के लिए सदैव तैयार है, बशर्ते कि वह अन्य अभ्यर्थियों के समान योग्यता वाला पाया जाए।

यह समझना आवश्यक है कि उच्च न्यायिक सेवा में अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश का पद न्याय प्रशासन के क्षेत्र में अत्यधिक उत्तरदायित्व से युक्त पद है। इस पद की अपेक्षा है कि उस पर नियुक्त व्यक्ति उल्लेखनीय योग्यता तथा अपेक्षित क्षमता वाला हो, जिससे वह एक वरिष्ठ न्यायिक अधिकारी के कर्तव्यों का समुचित निर्वहन कर सके।"

दिनांक 1.9.1994 को उच्च न्यायालय ने पुनः राज्य सरकार को अपने दृष्टिकोण से अवगत कराया। यह उल्लेखनीय है कि इस तिथि से पूर्व राज्य सरकार ने दिनांक 16.6.1994 को एक विज्ञापन जारी कर अधिवक्ता वर्ग से अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीशों की भर्ती हेतु आवेदन आमंत्रित किए थे, जिनमें आरक्षण अधिनियम के अधीन निर्धारित सीमा तक अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग आदि के लिए पद आरक्षित किए गए थे। उक्त विज्ञापन/अधिसूचना से व्यथित होकर प्रत्यर्थी अधिवक्ताओं ने एक विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर की, जिसमें यह घोषणा किए जाने की प्रार्थना की गई कि आरक्षण अधिनियम के प्रावधान, जहाँ तक उनका संबंध बिहार उच्च न्यायिक सेवा से है, शून्य एवं अप्रवर्तनीय हैं। उक्त विनिर्दिष्ट आदेश याचिका का निस्तारण इस अपील में आक्षेपित निर्णय द्वारा किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान के अनुच्छेद 234 अथवा अनुच्छेद 309 सहपठित अनुच्छेद 233 के अधीन नियम निर्माण के लिए उच्च न्यायालय की सहमति प्राप्त करने में असफल रहने के पश्चात् अध्यादेश जारी करने तथा तत्पश्चात आक्षेपित अधिनियम अधिनियमित करने का सहारा लिया गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति राज्य सरकार तथा उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए परस्पर विरोधात्मक एवं संघर्षपूर्ण दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न हुई। यदि राज्य के उक्त दोनों अंग संविधान के अधीन अपने दायित्वों का समुचित बोध रखते हुए निष्पक्षतापूर्वक कार्य करते, तो इस प्रकार का टकराव टाला जा सकता था। ऐसी स्थिति की इस न्यायालय द्वारा *बी. एस. यादव* प्रकरण (उपर्युक्त) में भी निन्दा की गई थी, जहाँ यह

कहा गया था : "यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति मुख्यतः इसलिए उत्पन्न हुई है क्योंकि राज्य सरकारें सेवा नियमों में संशोधन करते समय उच्च न्यायालय को विश्वास में लेने में असफल रही हैं। पंजाब के राज्यपाल तथा विशेषतः हरियाणा के राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायिक सेवा के नियमों में जिस प्रकार संशोधन किया गया, उस पर हमें गंभीर चिंता व्यक्त करनी पड़ती है।" उस मामले में उच्च न्यायालय के विरोध के बावजूद नियमों में संशोधन किया गया था तथा हरियाणा में किया गया संशोधन एक प्रत्यक्ष भर्ती से नियुक्त न्यायिक अधिकारी को लक्षित कर दुर्भावनापूर्ण उद्देश्य से किया गया था।

राज्य सरकार तथा पटना उच्च न्यायालय — दोनों ही लोक सेवा से संबंधित इस विषय में अपने संवैधानिक दायित्वों का समुचित बोध करने में असफल रहे। राज्य सरकार की जिद को संवाद एवं समझाइश के माध्यम से प्रतिस्थापित किया जा सकता था तथा उच्च न्यायालय भी तर्कसंगत दृष्टिकोण अपनाकर उस टकरावपूर्ण स्थिति से बच सकता था, यदि वह राज्य के उन संवैधानिक दायित्वों को समझता जिनके अनुसार समाज के दुर्बल वर्गों के पक्ष में आरक्षण प्रदान किया जाना अपेक्षित है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आरक्षण नीति को भारतीय संसदीय लोकतंत्र का एक अभिन्न अंग तथा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के हितों की सुरक्षा हेतु एक संरक्षात्मक उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है। संविधान में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से उनकी जनसंख्या के अनुपात को ध्यान में रखते हुए आरक्षण का प्रावधान किया गया है। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि समाज के इन दुर्बल वर्गों को दशकों तक शोषण, उत्पीड़न एवं भेदभाव का सामना करना पड़ा। प्रभुत्वशाली एवं शत्रुतापूर्ण वर्गों द्वारा उन्हें सदियों तक समाज की मुख्यधारा से बाहर रखा गया तथा राज्य व्यवस्था में उनके उचित प्रतिनिधित्व से वंचित किया गया। इसी कारण संविधान के अधीन उन्हें विशेष संरक्षण एवं विशेष व्यवहार प्रदान किया गया। जाति के आधार पर आरक्षण की अवधारणा का हमारे देश में एक दीर्घ इतिहास रहा है। आरक्षण अच्छा हो या बुरा, जब वह

संविधान का अंग है, तब उच्च न्यायालय को समाज के दुर्बल वर्गों के लिए आरक्षण लागू करने संबंधी राज्य सरकार के अनुरोध को पूर्णतः अस्वीकार करने जैसा अड़ियल रवैया नहीं अपनाना चाहिए था।

राज्य के इन दोनों अंगों के मध्य उत्पन्न वैमनस्य ने न तो लोकतांत्रिक व्यवस्था को किसी प्रकार सुदृढ़ किया और न ही समाज अथवा किसी संस्था के किसी वर्ग को कोई लाभ पहुँचाया। यह उल्लेखनीय है कि आक्षेपित अधिनियम द्वारा किए गए आरक्षणों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी गई थी कि वे मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करते हैं अथवा संविधान के अन्य प्रावधानों के प्रतिकूल हैं, सिवाय उन सीमित आधारों के जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

के.एन. चंद्र शेखर और अन्य बनाम राज्य मैसूर, एआईआर (1963) मैसूर 292 और *एम. आई. नादाफ बनाम राज्य मैसूर,* एआईआर (1967) मैसूर *77* के निर्णयों पर निर्भर करते हुए, उच्च न्यायालय ने *दीपक कुमार* के प्रकरण में पारित आक्षेपित आदेश द्वारा यह अभिमत व्यक्त किया :

> "अनुच्छेद 234 यह निर्देश देता है कि राज्य की न्यायिक सेवा के कुछ संवर्गों में नियुक्तियाँ केवल उसी अनुच्छेद के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार ही की जाएँगी, और उन नियमों को बनाने का अधिकार राज्यपाल को प्रदान किया गया है, जो उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग से परामर्श करने के पश्चात् ऐसे नियम बनाता है। संविधान के अनुच्छेद 234 से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि संविधान-निर्माताओं का आशय यह था कि राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्तियाँ, अन्य राज्य सेवाओं से भिन्न, केवल उसी अनुच्छेद के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विनियमित हों और राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित किसी ऐसे विधि द्वारा नहीं, जिसे अनुच्छेद 309 के अधीन अन्य सेवाओं की भर्ती के लिए विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई है।

न्यायिक सेवा को विशेष संरक्षण प्रदान किया गया तथा उसमें नियुक्तियों को अनुच्छेद 309 के प्रवर्तन-क्षेत्र और सामान्य विधायी नियंत्रण से पृथक रखा गया। अनुच्छेद 234 न्यायिक सेवा के उन संवर्गों में नियुक्तियों के संबंध में संविधान का एक अनिवार्य आदेश समाहित करता है और संविधान के उद्देश्य की पूर्ति हेतु नियम निर्माण के लिए राज्यपाल को एक प्रकार से विशेष विधायी प्राधिकारी के रूप में स्थापित करता है। इस प्रकार बनाए गए नियमों की स्थिति उतनी ही उच्च है जितनी अनुच्छेद 309 के अधीन विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि अथवा उसके परंतुक के अधीन बनाए गए नियमों की होती है। इसलिए अनुच्छेद 234 के अधीन नियम बनाने में राज्यपाल की शक्तियों का स्वरूप उस विधायिका के समान प्रतीत होता है जो अपने विधायी क्षेत्र में कानून बनाती है। जब विधायिका की शक्ति और राज्यपाल की शक्ति के मध्य यह समानता इतनी स्पष्ट है, तब यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थिति में अनुमेय प्रत्यायोजन की सीमाएँ भी समान ही मानी जानी चाहिए।"

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संविधान के अधीन न्यायिक सेवा को विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है तथा न्यायिक सेवा में नियुक्तियाँ केवल संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल द्वारा, राज्य लोक सेवा आयोग तथा संबंधित राज्य के अधिकार-क्षेत्र का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श के उपरांत बनाए गए नियमों के अनुसार ही की जा सकती हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्यपाल अथवा कार्यपालिका को संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन, जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की राज्य की न्यायिक सेवा में भर्ती के संबंध में नियम बनाने का कोई अधिकार, शक्ति अथवा प्राधिकार प्राप्त नहीं है। ऐसे न्यायिक अधिकारियों की सेवा शर्तों को नियंत्रित करने वाले नियम भी राज्यपाल केवल उसी प्रकार बना सकता है जैसा कि अनुच्छेद 234 में विनिर्दिष्ट किया गया है। तथापि, उच्च न्यायालय के इस निष्कर्ष को स्वीकार करना कठिन है

कि अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों की स्थिति अनुच्छेद 309 के अधीन विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के समान उच्च है। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अनुच्छेद 234 के अधीन नियम बनाने में राज्यपाल की शक्तियाँ किसी ऐसी विधायिका के समान हैं जो अपने स्वतंत्र विधायी क्षेत्र में कानून बनाती हो तथा जिनका प्रभाव अधिरोहक हो। संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन संघ अथवा राज्य के कार्यों से संबंधित लोक सेवाओं एवं पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा शर्तों को विनियमित करने हेतु विधि बनाने की विधानमंडल की शक्ति केवल संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन सीमित है, जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। प्रत्यायोजित विधान के अधीन बनाए गए नियमों को संविधान के "अन्य उपबंध" नहीं कहा जा सकता। केवल अनुच्छेद 234 ही राज्यपाल को विनिर्दिष्ट प्रकार से नियम बनाने की शक्ति प्रदान नहीं करता, बल्कि अनुच्छेद 309 सहित संविधान के अनेक अन्य उपबंध भी उसे संविधान द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों एवं सीमाओं के अधीन विभिन्न उद्देश्यों के लिए नियम बनाने का अधिकार प्रदान करते हैं। यह विधि का स्थापित सिद्धांत है कि विधानमंडल अपने मूलभूत विधायी कर्तव्य का परित्याग नहीं कर सकता। ऐसे मूलभूत कर्तव्य का समर्पण विधायी शक्तियों के परित्याग के समान माना जाएगा। प्रत्यायोजित विधान के अधीन बनाया गया कोई नियम अथवा विधि उस मूल विधायी प्राधिकारी — अर्थात् सार्वभौम विधायिका — द्वारा अपनी संवैधानिक शक्तियों के प्रयोग में निर्मित विधि अथवा प्रयुक्त शक्तियों का अतिक्रमण या अधिलोपन नहीं कर सकती, जबकि उस विषय पर उसे अन्यथा पूर्ण विधायी अधिकार प्राप्त हो।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 143 तथा दिल्ली विधि अधिनियम, 1912 आदि के संबंध में पुनर्विचार प्रकरण, ए. आई. आर. (1951) एस. सी. 332 में, न्यायमूर्ति कानिया, मुख्य न्यायाधीश ने विदेशी न्यायालयों के विभिन्न निर्णयों पर विचार करने के उपरांत यह पाया कि भारतीय विधानमंडल को संविधान के अधीन अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले विषयों पर विधि निर्माण करने की पूर्ण विधायी शक्ति प्राप्त है। उन्होंने आगे यह भी

प्रतिपादित किया कि "प्रतिनिधि को प्रदत्त प्रत्येक शक्ति सामान्यतः वापस ली जा सकती है। विरले ही ऐसा कोई मामला होगा जहाँ ऐसा न किया जा सके, क्योंकि जो विधायी निकाय प्रतिनिधि को शक्ति प्रदान करता है, उसके पास सदैव उस प्राधिकार को निरस्त करने की शक्ति रहती है, और ऐसी स्थिति की कल्पना करना कठिन है जिसमें वह शक्ति अपरिवर्तनीय रूप से समाप्त हो जाए।" देश की संवैधानिक व्यवस्था का उल्लेख करते हुए न्यायमूर्ति कानिया, मुख्य न्यायाधीश ने यह कहा :

> "1950 के नवीन संविधान के अधीन ब्रिटिश संसद, अर्थात् कोई बाह्य प्राधिकारी, अब भारतीय विधानमंडल पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रखती। उस विधानमंडल की शक्तियाँ केवल भारत के संविधान द्वारा परिभाषित, नियंत्रित तथा सीमित की गई हैं। तथापि, भारत के संविधान में निहित उपबंधों के कारण उसकी विधायी शक्ति का क्षेत्र विस्तृत नहीं हुआ है। यद्यपि संविधान संसद की स्थापना करता है और यद्यपि वह स्पष्ट शब्दों में विधायी शक्तियों को केवल संसद में निहित नहीं करता, तथापि संविधान की समस्त योजना इस अवधारणा पर आधारित है कि संघ के विधायी कार्य संसद द्वारा ही संपादित किए जाएंगे, किसी अन्य निकाय द्वारा नहीं। विधायी कार्यों का मूल तत्व, अर्थात् विधायी नीति का निर्धारण तथा उसका आचरण के नियम के रूप में प्रतिपादन, अब भी संसद अथवा राज्य विधानमंडल में, जैसा भी मामला हो, निहित है और अन्यत्र कहीं नहीं। मैं यह मत इसलिए व्यक्त करता हूँ क्योंकि भारत के संविधान के अनुच्छेद 357 तथा अनुच्छेद 22(4) के उपबंध इसी की पुष्टि करते हैं। अनुच्छेद 356 राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने की स्थिति का प्रावधान करता है। ऐसी उद्घोषणा जारी होने पर अनुच्छेद 357(क) में यह उपबंध है कि राज्य विधानमंडल की शक्तियों का

प्रयोग संसद द्वारा अथवा उसके प्राधिकार के अधीन किया जाएगा, और संसद को यह अधिकार होगा कि वह राष्ट्रपति को राज्य विधानमंडल की विधि बनाने की शक्ति प्रदान करे तथा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे कि वह अपनी उपयुक्त समझ के अनुसार शर्तें अधिरोपित करते हुए, इस प्रकार प्रदत्त शक्तियों को किसी अन्य निर्दिष्ट प्राधिकारी को प्रत्यायोजित कर सके।" उपखंड (2) इस प्रकार है :

> "संसद अथवा राष्ट्रपति या ऐसे अन्य प्राधिकारी के लिए, जिसमें ऐसी विधि बनाने की शक्ति निहित हो, संघ अथवा उसके अधिकारियों एवं प्राधिकारियों पर शक्तियाँ प्रदान करने तथा कर्तव्य अधिरोपित करने, अथवा शक्तियों के प्रदान किए जाने और कर्तव्यों के अधिरोपण को अधिकृत करने का अधिकार होगा।"

यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि ऐसी संवैधानिक व्यवस्था के विफल हो जाने की स्थिति में संसद अथवा राष्ट्रपति को, प्रथम, उन विषयों पर विधि निर्माण करने का अधिकार दिया जाना आवश्यक था जिन पर अन्यथा केवल राज्य विधानमंडल ही विधि बना सकता था, तथा द्वितीय, संसद अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान करना आवश्यक था कि वे राज्य सरकार के कार्यपालिका अधिकारियों को उस विधि के अनुसार कार्य करने के लिए अधिकृत कर सकें जिसे संसद अथवा राष्ट्रपति आपातकालीन स्थिति में अधिनियमित करें। यह भी कहा गया कि इसी उद्देश्य से 'प्रत्यायोजित करना' शब्द का प्रयोग किया गया है। मेरे मत में यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। उपखंड (2) राष्ट्रपति की उस शक्ति से संबंधित है जिसके माध्यम से वह राज्य की कार्यपालिका मशीनरी का उपयोग कर सकता है। परंतु खंड (क) के अधीन संसद को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह राष्ट्रपति को राज्य के 'विधानमंडल' की 'विधि बनाने की

> शक्ति' प्रदान कर सके। इस प्रकार अनुच्छेद 357(1)(क) स्पष्ट रूप से संसद को यह अधिकार देता है कि वह राष्ट्रपति को 'अपनी विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन' करने के लिए अधिकृत करे। यदि विधि निर्माण की शक्ति में ही किसी प्राधिकारी को प्रत्यायोजित करने की शक्ति अंतर्निहित होती, तो अनुच्छेद में इस अतिरिक्त उपबंध को सम्मिलित करने की कोई आवश्यकता ही न होती। अतः इस उपबंध की भाषा स्वयं इस निष्कर्ष का समर्थन करती है कि सामान्यतः विधायी शक्ति में प्रत्यायोजन की शक्ति सम्मिलित नहीं मानी जाती।"

न्यायमूर्ति फ़ज़ल अली ने विधानमंडल के कर्तव्यों तथा उसकी प्रत्यायोजन संबंधी शक्ति के विषय में यह प्रतिपादित किया :

> "विधानमंडल को सामान्यतः अपना मूल विधायी कार्य स्वयं ही संपादित करना चाहिए, न कि अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के माध्यम से। (2) एक बार यह स्थापित हो जाने पर कि किसी निश्चित क्षेत्र में उसके पास सार्वभौम विधायी शक्तियाँ हैं, तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि वह उस क्षेत्र में अपनी मंशा तथा नीति को प्रभावी बनाने के लिए अपनी दृष्टि में सर्वोत्तम प्रतीत होने वाले किसी भी ढंग से विधि निर्माण करने के लिए स्वतंत्र है, तथा वह ऐसे किसी बाह्य अभिकरण का उपयोग उस सीमा तक कर सकता है जितना वह आवश्यक समझे, उन कार्यों के संपादन हेतु जिन्हें वह स्वयं करने में असमर्थ हो अथवा जिन्हें स्वयं करना उसके लिए असुविधाजनक हो। दूसरे शब्दों में, वह उन सभी कार्यों को कर सकता है जो उसकी विधायी शक्ति के पूर्ण तथा प्रभावी प्रयोग के लिए सहायक और आवश्यक हों। (3) वह अपनी विधायी शक्तियों का परित्याग नहीं कर सकता, और इसलिए जब वह किसी बाह्य अभिकरण को शक्ति प्रदान करे, तब यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि

वह अभिकरण अधीनस्थ प्राधिकारी के रूप में कार्य करे तथा समानांतर विधानमंडल का रूप ग्रहण न कर ले। (4) शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत तथा अमेरिकी संविधान के निर्माण के पश्चात् अमेरिका में न्यायालयों द्वारा की गई उसकी व्याख्या, अमेरिकी न्यायालयों को अत्यधिक एवं अनुचित प्रत्यायोजन पर नियंत्रण रखने में सक्षम बनाती है; परंतु इस देश के न्यायालय उस सिद्धांत के प्रति उसी प्रकार आबद्ध नहीं हैं और न ही उसे उसी प्रकार लागू कर सकते हैं जैसा कि अमेरिका में किया गया है। अतः इस देश में विधानमंडल की प्रत्यायोजन शक्ति पर केवल दो प्रमुख नियंत्रण हैं—प्रथम, उसकी अपनी विवेकशीलता, तथा द्वितीय, यह सिद्धांत कि वह उस सीमा का अतिक्रमण न करे जहाँ प्रत्यायोजन, विधायी शक्तियों के परित्याग तथा आत्म-विलोपन का रूप धारण कर ले।"

न्यायमूर्ति महाजन का मत था कि संसद, केवल एक साधारण विधानमंडल होने के अतिरिक्त, एक सर्वशक्तिमान सार्वभौम प्राधिकारी भी है; अतः वह अपनी सार्वभौम शक्ति के प्रयोग में अपनी विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन कर सकती है अथवा नवीन निकायों की स्थापना करके उन्हें विधि निर्माण की शक्ति भी प्रदान कर सकती है। चाहे वह विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन एक साधारण विधानमंडल के रूप में करे अथवा एक सर्वशक्तिमान सार्वभौम सत्ता के रूप में, उसके ऐसे कृत्य न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन नहीं होंगे। उसी वाद में न्यायमूर्ति मुखर्जी ने यह प्रतिपादित किया कि विधानमंडल अपनी मूल अथवा आवश्यक विधायी शक्ति का परित्याग नहीं कर सकता। इस आवश्यक शक्ति का समर्पण विधि की दृष्टि में उसकी विधायी शक्ति के परित्याग के समान होगा।

होटल बालाजी और अन्य, आदि बनाम आंध्र प्रदेश राज्य और अन्य, आदि, एआईआर (1993) एससी 1048 में इस न्यायालय ने यह प्रतिपादित किया कि किसी अधिनियम के किसी विशेष उपबंध को अधिनियमित करने के संबंध में विधानमंडल की विधायी क्षमता को

किसी निश्चित समय पर प्रवृत्त नियम अथवा नियमों पर निर्भर नहीं बनाया जा सकता। संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल को विहित रीति से नियम बनाने की जो शक्ति प्रदान की गई है, उसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य संविधान के भाग XI, अध्याय I तथा सप्तम अनुसूची के अधीन विधानमंडल को प्रदत्त शक्ति को उससे वंचित करना था। यदि ऐसी व्याख्या स्वीकार कर ली जाए तो वह विधियों की व्याख्या से संबंधित स्थापित सिद्धांतों के प्रतिकूल होगी। यद्यपि यह सत्य है कि राज्यपाल अनुच्छेद 234 के अधीन आने वाले विषयों के संबंध में किसी अन्य प्रकार से (अनुच्छेद 309 के अधीन) नियम नहीं बना सकता, तथापि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्यपाल की ऐसी शक्ति को विधानमंडल की उस सार्वभौम विधायी शक्ति के समकक्ष माना जाए जिसके द्वारा वह अपने निर्दिष्ट क्षेत्राधिकार के विषयों पर विधि निर्माण करता है। न्यायिक सेवा के संबंध में, अनुच्छेद 233 से 236 द्वारा आच्छादित विषयों का अतिक्रमण किए बिना, विधानमंडल की विधि निर्माण शक्ति को इस न्यायालय ने *बी.एस.यादव* का मामला (उपरोक्त) में निहित रूप से स्वीकार किया है।

मैसूर उच्च न्यायालय ने *के.एन. चंद्र शेखर* का मामला में अनुच्छेद 233 तथा 309 का उल्लेख करते हुए कुछ टिप्पणियाँ की थीं, जिन पर पटना उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में भरोसा किया। उस वाद में वास्तव में मैसूर उच्च न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न विचारार्थ नहीं था कि संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियम, अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए किसी विधि अधिनियम की अपेक्षा अंतिम अथवा सर्वोपरि होंगे या नहीं। मैसूर उच्च न्यायालय के समक्ष विचाराधीन मामले में विवाद राज्य की न्यायिक सेवा में मुंसिफों के पदों पर नियुक्तियों के संबंध में उत्पन्न हुआ था। राज्य लोक सेवा आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 234 तथा अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन राज्यपाल द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की थी। परीक्षा में सम्मिलित हुए किन्तु सफल न हो सके अभ्यर्थियों ने लोक सेवा आयोग की अधिसूचना को इस आधार पर चुनौती

दी कि वह विधिसम्मत अधिकार के बिना जारी की गई थी। लोक सेवा आयोग की अधिसूचना पर यह आपत्ति की गई कि चूँकि नियमों में ऐसा कोई मापदंड निर्धारित नहीं किया गया था जिसके आधार पर अभ्यर्थियों की सफलता निर्धारित की जा सके, अतः आयोग के पास यह निर्धारित करने का कोई आधार नहीं था कि कौन अभ्यर्थी सफल है और कौन असफल। यह भी कहा गया कि आयोग को ऐसा कोई मापदंड स्वयं निर्धारित करने का अधिकार नहीं था जो नियमों में निर्दिष्ट न हो। आयोग ने सफल अभ्यर्थियों के चयन हेतु एक सूत्र अपनाया था जिसके अनुसार अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए 45% तथा अन्य अभ्यर्थियों के लिए 55% अंक अर्हता अंक के रूप में निर्धारित किए गए थे। यह भी दावा किया गया कि अर्हता अंक निर्धारित करने की राज्यपाल की शक्ति को निहित रूप से आयोग को प्रत्यायोजित कर दिया गया था। इसी संदर्भ में उच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 234 का परीक्षण करते हुए यह अभिमत व्यक्त किया :

> "यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि अनुच्छेद 234 का उद्देश्य यह है कि उसमें उल्लिखित नियुक्तियों का विनियमन राज्यपाल, उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग की सामूहिक बुद्धिमत्ता और विचार-विमर्श द्वारा किया जाए, और यह भी स्पष्ट है कि अपेक्षित परामर्श के बिना बनाया गया कोई भी नियम न तो प्रभावी होगा और न ही उसमें कोई वैधानिक शक्ति होगी। यह भी प्रत्यक्ष है कि ऐसे सामूहिक विचार-विमर्श के अंतर्गत अनेक विषय आएँगे, जैसे—यह निर्धारित करना कि नियुक्तियाँ परीक्षा के आधार पर की जाएँ अथवा नहीं, और यदि की जाएँ तो परीक्षा का स्वरूप क्या हो; किन विषयों में अभ्यर्थियों की परीक्षा ली जाए; न्यूनतम तथा अधिकतम अंकों का निर्धारण; परीक्षा आयोजित करने वाले प्राधिकारी की नियुक्ति; अभ्यर्थियों की योग्यता एवं अयोग्यता का निर्धारण तथा इसी प्रकार के अन्य विषय।"

यह भी कहा गया :

"यदि अनुच्छेद 234 की सही व्याख्या के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि उस मानदण्ड को किसी नियम द्वारा निर्दिष्ट या निर्धारित किया जाए, तभी यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल उस कार्य को किसी अन्य को प्रत्यायोजित कर सकता है। यह अनुच्छेद एक विशेष संवैधानिक उपबंध है, जो न्यायपालिका में कुछ नियुक्तियों को अनुच्छेद 309 के प्रावधानों के क्षेत्र से बाहर करता है और राज्यपाल को यह निर्देश देता है कि वह ऐसी नियुक्तियाँ उच्च न्यायालय और लोक सेवा आयोग से परामर्श करके बनाए गए नियमों के अनुसार करे। वे कौन-से विषय हैं जिनके संबंध में राज्यपाल को उच्च न्यायालय और लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक है? यह स्पष्ट है कि लोक सेवा आयोग से उन विषयों के संबंध में परामर्श किया जाना अपेक्षित था, जिनमें उसे सलाह देने की विशेष विशेषज्ञता प्राप्त है। उच्च न्यायालय से इस उद्देश्य से परामर्श किया जाना आवश्यक था कि उसके नियंत्रणाधीन सेवा में नियुक्तियाँ किस प्रकार और किस रीति से संतोषजनक ढंग से की जा सकती हैं, इस विषय में उसकी सलाह प्राप्त की जा सके।"

यह स्वीकार किया गया था कि अर्हता अंक निर्धारित करने वाला कोई नियम अस्तित्व में नहीं था। न ही उन अर्हता अंकों को निर्धारित करने की शक्ति किसी विधायी प्राधिकरण को स्पष्ट रूप से प्रत्यायोजित की गई थी। उस मामले में राज्य ने अनुच्छेद 320(3) की ऐसी व्याख्या करने का आग्रह किया था कि उक्त उपबंध राज्यपाल अथवा अनुच्छेद 309 के अधीन कार्य करने वाली विधायिका को अर्हता अंक निर्धारित करने के संबंध में लोक सेवा आयोग से परामर्श करने के लिए बाध्य नहीं करता और यह विधायिका अथवा राज्यपाल के लिए, जैसा भी मामला हो, खुला है कि वे ऐसे परामर्श के बिना ही उन अर्हता अंकों को निर्धारित एवं निश्चित कर दें। न्यायालय ने पाया कि अनुच्छेद 320(3) के प्रावधान इतने व्यापक हैं कि वे राज्य द्वारा अपेक्षित व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। अर्हता

अंकों का निर्धारण परीक्षा-योजना का अभिन्न अंग माना गया, क्योंकि न्यायिक सेवा के लिए अभ्यर्थियों की उपयुक्तता की जाँच हेतु भर्ती की जो पद्धति अपनाई गई थी, वह परीक्षा ही थी। न्यायालय ने कहा कि : "महाधिवक्ता महोदय द्वारा सुझाई गई व्याख्या, जो विधायिका अथवा राज्यपाल को अर्हता अंक निर्धारित करने के संबंध में लोक सेवा आयोग से परामर्श न करने की अनुमति देती है और इस सीमा तक परामर्श की उपयोगिता को कम करके उसे निष्फल और आभासी बना देती है, स्वीकार किए जाने योग्य नहीं हो सकती।" अनुच्छेद 234 के अधीन अपेक्षित परामर्श को उन सभी विषयों तक विस्तृत माना गया जिन पर अनुच्छेद 320(3) परामर्श का निर्देश देता है। अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा निर्धारित प्रतियोगी परीक्षा में प्राप्त अर्हता अंक, राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय और लोक सेवा आयोग से परामर्श का विषय होंगे। चयन को निरस्त करते हुए न्यायालय ने कहा कि राज्यपाल के लिए यह खुला रहेगा कि वह अर्हता अंक निर्धारित करने हेतु उपयुक्त नियम बनाए तथा लोक सेवा आयोग उन नियमों के अनुसार पुनः मौखिक परीक्षा आयोजित करे। उस मामले में विषय से संबंधित किसी विधायी अधिनियम की वैधता विवाद में नहीं थी, जिससे निर्णय के कंडिका 23 में की गई टिप्पणियों की आवश्यकता पड़ती। अन्यथा भी, *चन्द्रशेखर प्रकरण* (उपरोक्त) पर विचार करते हुए माननीय न्यायमूर्ति मजमूदार ने उचित रूप से निष्कर्ष निकाला :

> "न्यायमूर्ति सोमनाथ अय्यर ने खंडपीठ की ओर से कहते हुए यह टिप्पणी की थी कि : 'अनुच्छेद 234 न्यायिक सेवा में नियुक्तियों को अनुच्छेद 309 के संचालन से बाहर करता है और इस उद्देश्य से नियम बनाने के लिए राज्यपाल को एक प्रकार से चयनित विधायी अंग के रूप में स्थापित करता है।' उपर्युक्त टिप्पणी को, निस्संदेह, इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा *बी.एस. यादव* प्रकरण (उपरोक्त) में दिए गए निर्णय के आलोक में सीमित अर्थ में पढ़ा जाना होगा।"

एम.आई. नदाफ प्रकरण (उपरोक्त) में, *के.एन. चन्द्रशेखर प्रकरण* पर भरोसा करते हुए, मैसूर उच्च न्यायालय ने यह माना कि संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन राज्यपाल द्वारा बनाए गए नियम, अनुच्छेद 234 के अधीन उसके द्वारा बनाए गए नियमों को अधिभूत नहीं कर सकते। उस मामले में याचिकाकर्ता ने संविधान के अनुच्छेद 309 के प्रावधान के अधीन बनाए गए उन नियमों पर भरोसा किया था जो सामान्यतः मैसूर राज्य की दीवानी सेवाओं में भर्ती से संबंधित थे, जबकि न्यायिक सेवा से संबंधित विशिष्ट नियम पहले ही संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए जा चुके थे। *के.एन. चन्द्रशेखर* प्रकरण का उल्लेख करने के पश्चात् न्यायालय ने कहा :

> उस निर्णय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि संविधान के अनुच्छेद 234 में उल्लिखित व्यक्तियों की नियुक्ति से संबंधित कोई भी नियम राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय अथवा लोक सेवा आयोग से परामर्श किए बिना वैध रूप से नहीं बनाया जा सकता। जैसा कि पूर्व में देखा गया है, मैसूर मुंसिफ़ (भर्ती) नियम, 1958 में मुंसिफ़ों की नियुक्ति के लिए आयु-सीमा निर्धारित की गई थी। वे नियम राज्यपाल द्वारा संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन उच्च न्यायालय और लोक सेवा आयोग से परामर्श करके बनाए गए थे। उस नियम में कोई भी परिवर्तन केवल अनुच्छेद 234 के अधीन और उसी अनुच्छेद की आवश्यकताओं के अनुरूप ही किया जा सकता है। जैसा कि पहले देखा गया है, 'नियम' अनुच्छेद 234 की आवश्यकताओं का पालन नहीं करते। ऐसी स्थिति में हम याचिकाकर्ता के अधिवक्ता श्री जावली की इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि मुंसिफ़ (भर्ती) नियमों के अधीन निर्धारित आयु-अर्हता के नियम 6(4)(बी) द्वारा संशोधित हो गई थी। हमारा यह मत कि जिला न्यायाधीशों को छोड़कर राज्य की न्यायिक सेवाओं में नियुक्तियाँ केवल संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन राज्यपाल द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग तथा उस राज्य पर अधिकार क्षेत्र

रखने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात बनाए गए नियमों के अनुसार ही की जानी चाहिए, न कि संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन उसके द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार, मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय *एन. देवसहायम बनाम मद्रास राज्य,* ए. आई. आर. (1958) एम. ए. डी . 53 तथा राजस्थान उच्च न्यायालय के निर्णय *राजवी अमर सिंह बनाम राजस्थान राज्य,* ए. आई. आर. (1956) आर. ए. जे. 104 से भी समर्थित है।"

यह सत्य है कि यदि संविधान के अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों और अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए नियमों के बीच कोई संघर्ष हो, तो बाद वाले नियम, जहाँ तक वे अधीनस्थ न्यायपालिका से संबंधित हैं, अप्रभावी और अनुप्रयोज्य होंगे। तथापि, मुख्य अनुच्छेद 309 को अध्याय VI में निर्दिष्ट सीमा से अधिक अनुच्छेद 234 के अधीन नहीं बनाया जा सकता। दूसरे शब्दों में, उपयुक्त विधायिका संविधान के अध्याय XI तथा सप्तम अनुसूची के साथ पढ़े जाने पर, यदि अधिकृत हो, तो विधि बनाने के लिए सक्षम होगी। अनुच्छेद 234 के अधीन बनाए गए नियमों और उपयुक्त विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के बीच संघर्ष की स्थिति में, नियमों को संप्रभु विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के आगे झुकना होगा। तथापि, ऐसा बनाया गया कानून अवैध अथवा न्यायिक सेवा पर अनुप्रयोज्य घोषित किया जा सकता है, यदि वह किसी प्रकार न्यायपालिका की स्वतंत्रता को कमज़ोर करता हो अथवा उपर्युक्त अध्याय VI के अधीन प्रदत्त संवैधानिक गारण्टियों का अतिक्रमण करता हो, या मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता हो। कोई अन्य व्याख्या करना संप्रभु विधायिका की शक्तियों का अतिक्रमण करने के समान होगा। ऐसा दृष्टिकोण भारत के लोगों द्वारा अपने शासन के लिए अपनाई गई संसदीय लोकतंत्र की अवधारणा को निष्प्रभावी कर देगा। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि संसदीय लोकतंत्र संविधान की मूल विशेषताओं में से एक है, जिसे संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन संसद को प्रदत्त संवैधानिक शक्तियों के

प्रयोग द्वारा भी कोई परिवर्तित, संशोधित या प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। अतः पटना उच्च न्यायालय यह मानने में त्रुटि कर बैठा कि संविधान के अनुच्छेद 309 अथवा अध्याय XI को सप्तम अनुसूची के साथ पढ़े जाने पर उसमें निहित शक्तियों के प्रयोग में संप्रभु विधायिका द्वारा बनाया गया कानून बिहार राज्य की न्यायिक सेवा पर लागू नहीं होता।

उपरोक्त संवैधानिक योजना से, विशेष रूप से संविधान के भाग VI अध्याय VI, भाग XIV अध्याय I, भाग XI अध्याय I तथा सप्तम अनुसूची के संदर्भ में, निम्नलिखित निष्कर्ष उभरते हैं :

(i) संविधान-निर्माताओं ने न्यायिक सेवा को एक विशेष दर्जा और विशेष संरक्षण प्रदान किया है;

(ii) न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है, जिसमें न तो कार्यपालिका की कार्रवाई द्वारा और न ही विधायिका के किसी अधिनियम द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है;

(iii) संविधान के अध्याय VI में विनिर्दिष्ट सेवा-शर्तों को न तो नियम बनाने की शक्ति द्वारा और न ही संविधान के अनुच्छेद 309 के अंतर्गत प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग से बनाए गए किसी कानून द्वारा परिवर्तित, संशोधित अथवा प्रतिस्थापित किया जा सकता है;

(iv) अनुच्छेद 234 के अंतर्गत बनाए गए नियमों को न्यायिक सेवा की नियुक्ति/भर्ती, अनुशासन तथा नियंत्रण के मामलों में प्रधानता प्राप्त है और ऐसे नियम भी न्यायिक सेवा से संबंधित व्यक्तियों से अपील का वह अधिकार नहीं छीन सकते जो उन्हें उनकी सेवा-शर्तों को विनियमित करने वाले किसी कानून के अंतर्गत प्राप्त हो, और न ही वे उच्च न्यायालय को उनके साथ उनकी सेवा-शर्तों के अनुसार निर्धारित विधि के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से व्यवहार करने के लिए अधिकृत कर सकते हैं;

(v) संविधान के भाग VI अध्याय VI के उपबंध तथा अनुच्छेद 309 के अंतर्गत उपयुक्त विधायिका और राज्यपाल को प्रदत्त शक्तियाँ, न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने की शर्त के अधीन, परस्पर पूरक एवं अनुपूरक हैं;

(vi) यदि अध्याय VI के अंतर्गत बनाए गए नियमों और अनुच्छेद 309 के अंतर्गत बनाए गए नियमों में टकराव हो, तो संविधान के अनुच्छेद 234 के अंतर्गत विशेष रूप से बनाए गए नियम प्रभावी होंगे और अनुच्छेद 309 के अंतर्गत बनाए गए नियम उस सीमा तक अप्रभावी हो जाएंगे;

(vii) संसद अथवा राज्य विधायिका किसी भी विषय पर, जिसमें न्यायिक सेवा से संबंधित विषय भी सम्मिलित हैं, विधि बना सकती है, बशर्ते कि ऐसा विधान भाग XI अध्याय I तथा सप्तम अनुसूची के अधीन अनुमत हो और संविधान के अन्य उपबंधों तथा स्वयं संविधान के भाग VI अध्याय VI के अंतर्गत न्यायिक सेवा के पक्ष में प्रदत्त अधिकारों के प्रतिकूल न हो;

(viii) यद्यपि उपयुक्त विधायिका द्वारा बनाया गया कोई कानून पूर्ण विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाया गया माना जाए और भाग VI अध्याय VI के प्रतिकूल न हो, फिर भी न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन होने के कारण उसे चुनौती दी जा सकती है यदि वह मौलिक अधिकारों अथवा संविधान के किसी अन्य उपबंध का उल्लंघन करता हो;

(ix) जिस प्रकार संविधान के अनुच्छेद 234 के अंतर्गत नियम बनाए जाते समय उच्च न्यायालय से परामर्श अपेक्षित है, उसी प्रकार यह भी अपेक्षित है कि यदि कार्यपालिका न्यायिक सेवा के संबंध में अनुच्छेद 309 के अंतर्गत कोई नियम बनाना चाहे, तो उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाए और नियम निर्माण के समय उसके विचारों को उचित महत्व दिया जाए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि परामर्श की प्रक्रिया में संबंधित उच्च न्यायालय संविधान के भाग III, भाग IV अथवा संविधान के किसी अन्य उपबंध के अंतर्गत राज्य पर अधिरोपित संवैधानिक दायित्वों को ध्यान में रखेगा;

(x) उपर्युक्त निष्कर्ष, तथापि, संविधान के भाग V अध्याय IV तथा भाग VI अध्याय V के अंतर्गत स्थापित एवं गठित उच्च न्यायपालिका पर लागू नहीं होंगे।

उपर्युक्त प्रतिपादित विधिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में, आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया वह निष्कर्ष, जिसमें यह कहा गया है कि आक्षेपित अधिनियम न्यायिक सेवा पर लागू नहीं होता, टिक नहीं सकता और उसे निरस्त किया जाना आवश्यक है। निर्विवाद रूप से, आक्षेपित अधिनियम को किसी अन्य आधार पर चुनौती नहीं दी गई है। उत्तरदाताओं का यह मामला नहीं है कि यह अधिनियम किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन करता है अथवा संविधान के किसी प्रावधान के विपरीत है या यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता से छेड़छाड़ करता है। आक्षेपित अधिनियम किसी भी प्रकार से जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा प्रत्यक्ष पदोन्नति या जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की न्यायिक सेवा में नियुक्ति के संबंध में सिफारिश करने की उच्च न्यायालय की शक्ति का अतिक्रमण नहीं करता। संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप कानून बनाने के पश्चात, न्यायिक सेवा में व्यक्तियों की नियुक्ति हेतु चयन का कार्य उच्च न्यायालय की बुद्धिमत्ता और विवेक पर छोड़ दिया गया है। उच्च न्यायालय को इस बात से किसी प्रकार वंचित नहीं किया गया है कि वह उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ अभ्यर्थियों का चयन करे, यदि वे अन्यथा पात्रता की शर्तें पूर्ण करते हों और विधि द्वारा निर्धारित मानकों के भीतर आते हों। आक्षेपित अधिनियम द्वारा आरक्षण किए जाने के बावजूद, नियुक्तियों के विषय में उच्च न्यायालय की शक्ति, जैसा कि आशंका व्यक्त की गई थी, सीमित नहीं हुई है। आरक्षण के आधार पर नियुक्तियाँ केवल उन्हीं व्यक्तियों की की जा सकती हैं जिन्हें पात्र पाया गया हो और जिनकी अनुशंसा उच्च न्यायालय द्वारा की गई हो। राज्यपाल अथवा कार्यपालिका आरक्षित वर्गों में से अपनी इच्छा से किसी व्यक्ति की नियुक्ति नहीं कर सकते। एक बार आरक्षण कर दिए जाने के पश्चात, उच्च न्यायालय पूर्णतः अपनी शक्तियों के भीतर रहकर श्रेणी तथा उपयुक्तता निर्धारित कर चयन हेतु अनुशंसा कर सकता है। विधायिका द्वारा अपनी वैध शक्तियों के प्रयोग से न्यायपालिका की स्वतंत्रता किसी भी

प्रकार समाप्त नहीं हुई है। अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा विधायिका ने अधीनस्थ न्यायपालिका पर उच्च न्यायालय के समग्र नियंत्रण में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया हुआ प्रतीत नहीं होता। यद्यपि नियुक्ति करने वाला उपयुक्त प्राधिकारी राज्यपाल है, तथापि उच्च न्यायालय की शक्ति अथवा न्यायपालिका की स्वतंत्रता कमज़ोर नहीं होती, क्योंकि राज्यपाल को प्रदत्त नियुक्ति की शक्ति का प्रयोग उसे उच्च न्यायालय से परामर्श करके ही करना होता है। इस न्यायालय ने *एम.एम. गुप्ता और अन्य बनाम कश्मीर राज्य और अन्य,* एआईआर (1982) एससी 1579, में, अनेक निर्णयों का संदर्भ देने के पश्चात, यह निष्कर्ष निकाला था :

> "हमारा मत है कि इन नियुक्तियों के मामले में स्वस्थ परंपरा और उचित मानदंड विकसित किए जाने चाहिए, ताकि संविधान की आवश्यकताओं के अनुरूप न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा की जा सके। हमारा मत है कि सामान्यतः, उच्च न्यायालय द्वारा जिला न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए की गई अनुशंसाओं को राज्य सरकार द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए और राज्यपाल को उन पर कार्रवाई करनी चाहिए। यदि किसी विशेष मामले में, राज्य सरकार को ठोस और महत्वपूर्ण कारणों से उच्च न्यायालय की अनुशंसाओं को स्वीकार करना कठिन लगता है, तो राज्य सरकार को अपने विचार उच्च न्यायालय को सूचित करने चाहिए और इस मामले में उच्च न्यायालय के साथ पूर्ण और प्रभावी परामर्श करना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि उच्च न्यायालय को यह विश्वास हो जाता है कि राज्य सरकार की आपत्तियों के अच्छे कारण हैं, तो उच्च न्यायालय निश्चित रूप से इस मामले और उच्च न्यायालय द्वारा की गई अनुशंसाओं पर पुनर्विचार करेगा। इन नियुक्तियों का मुख्य उद्देश्य कुशल और उचित न्यायिक प्रशासन सुनिश्चित करना है, इसलिए आम सहमति पर पहुंचने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए क्योंकि उच्च न्यायालय और राज्य सरकार दोनों को न्याय के उचित प्रशासन

> के लिए उपयुक्त जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के सच्चे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इस प्रश्न पर निष्पक्ष रूप से विचार करना होगा।"

इस न्यायालय ने *इंद्र साहनी और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य,* [1992] सप्लीमेंट (3) एससीसी 217 में यह निर्णय दिया है कि आरक्षण ऐतिहासिक भेदभाव तथा उसके निरंतर बने रहने वाले दुष्प्रभावों के उपचार का माध्यम है। निर्धनता सकारात्मक कार्रवाई की मांग करती है। उसका उन्मूलन एक संवैधानिक आदेश है। अनुच्छेद 16(4) का उद्देश्य राज्य की सेवाओं में उस वर्ग को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करना है जिसका उसमें प्रतिनिधित्व नहीं है। यह अनुच्छेद दुर्बल वर्गों के व्यक्तियों को नहीं, बल्कि एक विशिष्ट वर्ग को पृथक करता है, और वह वर्ग वही है जिसे राज्य की सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। न्यायमूर्ति पाण्डियन ने अपने सहमतिपूर्ण किंतु पृथक निर्णय में कहा था :

> "यद्यपि 'समान संरक्षण' का उपबंध राज्य को अपने लोगों के किसी वर्ग को विशेष सुविधाएँ अथवा प्राथमिकताएँ प्रदान करने में अनुचित भेदभाव करने से निषिद्ध करता है, तथापि यह राज्य से यह अपेक्षा भी करता है कि जो लोग असमान परिस्थितियों में स्थित हैं, उन्हें वास्तविक रूप से समान अवसर प्रदान किए जाएँ।
>
> आरक्षण की मूल नीति असमानता को संतुलित करने और उस स्पष्ट असंतुलन को दूर करने की है, जिसके कारण बीती हुई पीढ़ियों के पीड़ित लोग बहुत पीछे रह गए हैं और विशेष प्राथमिकताओं तथा विशेष उपायों के माध्यम से समानता की मांग कर रहे हैं। अतः एक व्यापक पद्धतिगत दृष्टिकोण आवश्यक है, जिसमें न्यायशास्त्रीय, तुलनात्मक, ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय परिस्थितियों को सम्मिलित किया जाए। ऐसे विचार विवादास्पद प्रश्न उत्पन्न करते हैं, जो साधारण विधिक अभ्यास से परे हैं, क्योंकि कुछ सामाजिक समूह स्वभावतः असमान स्थिति में हैं और भेदभाव के शिकार रहे हैं, इसलिए उन्हें

> प्रतिपूरक व्यवहार की आवश्यकता होती है। यह विशेष रूप से रेखांकित करने की आवश्यकता नहीं है कि वास्तविक समानता अथवा सारभूत समानता प्राप्त करने के लिए लाभकारी व्यवहार की आवश्यकता होती है, ताकि असमान स्थिति में रखे गए दो वर्गों के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके।"

बहुमत के निर्णय में आगे यह भी कहा गया कि अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत "राज्य" को कोई उपबंध करने की जो शक्ति प्राप्त है, उसका यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि ऐसा उपबंध केवल संसद अथवा किसी राज्य विधानमंडल द्वारा ही किया जाए। सरकार कार्यपालिका के आदेशों द्वारा भी आरक्षण लागू कर सकती है, जैसा कि बिहार में अधीनस्थ न्यायिक सेवा के संबंध में भी किया जाता रहा है। चूँकि आक्षेपित अधिनियम, जो सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान करता है और जिसमें न्यायिक सेवा भी सम्मिलित है, को इस आधार पर चुनौती नहीं दी गई कि वह मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है अथवा किसी संवैधानिक प्रावधान के प्रतिकूल है, इसलिए उसकी संवैधानिक वैधता की उपर्युक्त कसौटियों पर परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

इस विधिक स्थिति के आलोक में अब यह निर्धारित किया जाना आवश्यक है कि क्या वास्तव में आक्षेपित अधिनियम ने न्यायिक सेवा में भी आरक्षण का कोई प्रावधान किया है अथवा नहीं। अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों के अवलोकन के पश्चात उच्च न्यायालय ने यह माना कि यह अधिनियम न्यायिक सेवा से संबंधित नहीं है और बिहार सरकार द्वारा उक्त अधिनियम के अनुसार आरक्षण का प्रावधान करते हुए अधिसूचनाएँ जारी करने पर दिया गया बल अनुचित था। अधिनियम की धारा 2(ग) में प्रयुक्त "स्थापना" शब्द की परिभाषा में आने वाले "कार्यालय या विभाग" शब्दों की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने कहा कि उक्त शब्द न्यायालय के कार्यालय या विभाग को सूचित करते हैं, न कि स्वयं न्यायालय को। आगे यह भी कहा गया कि आरक्षण अधिनियम से पृथक न्यायिक सेवा में पदों का आरक्षण अनुमेय नहीं था। धारा 4 की व्याख्या करते हुए उच्च न्यायालय ने यह टिप्पणी की :

"प्रसंग के संदर्भ में, धारा 2(सी) और 2(एन) के साथ पढ़े जाने पर धारा 4 की सही व्याख्या कुछ इस प्रकार होगी —

> न्यायपालिका के किसी कार्यालय या विभाग (अर्थात् स्थापना) में सेवाओं और पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा की जाने वाली सभी नियुक्तियाँ निम्नलिखित प्रकार से विनियमित की जाएँगी।"

बिहार अधिनियम संख्या 3, 1992 में किए गए स्पष्ट प्रावधानों के आलोक में उच्च न्यायालय के निष्कर्षों को बनाए नहीं रखा जा सकता। अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया है कि इसे राज्य के अधीन पदों और सेवाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करने हेतु अधिनियमित किया गया है। धारा 2(ए) "नियुक्ति प्राधिकारी" को, किसी स्थापना में सेवा या पद के संबंध में, उस प्राधिकारी के रूप में परिभाषित करती है जो ऐसी सेवाओं या पदों पर नियुक्ति करने के लिए सशक्त हो। धारा 2(सी) "स्थापना" को इस प्रकार परिभाषित करती है — "राज्य का कोई भी कार्यालय या विभाग जो राज्य के कार्यों के संबंध में लोक सेवाओं और पदों पर नियुक्तियों से संबंधित हो," और इसमें सम्मिलित हैं : (i) किसी प्रचलित राज्य अधिनियम के अधीन गठित स्थानीय अथवा वैधानिक प्राधिकारी; (ii) बिहार सहकारी समिति अधिनियम, 1935 के अंतर्गत पंजीकृत सहकारी संस्था, जिसमें राज्य सरकार का अंश हो अथवा जिसे ऋण, अनुदान, सब्सिडी आदि के रूप में राज्य सरकार से सहायता प्राप्त होती हो; (iii) विश्वविद्यालय तथा उनसे संबद्ध महाविद्यालय, प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च विद्यालय तथा अन्य शैक्षणिक संस्थान, जो राज्य सरकार के स्वामित्व में हों अथवा उससे सहायता प्राप्त करते हों; तथा (iv) सार्वजनिक क्षेत्र का कोई उपक्रम, धारा 2(एफ) "आरक्षण" को अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पदों और सेवाओं में रिक्तियों के आरक्षण के रूप में परिभाषित करती है। धारा 2(एन) "राज्य" की परिभाषा में बिहार राज्य की सरकार, विधायिका तथा न्यायपालिका और राज्य के भीतर

अथवा राज्य सरकार के नियंत्रणाधीन सभी स्थानीय या अन्य प्राधिकरणों को सम्मिलित करती है। धारा 3 उन "सेवाओं" का उल्लेख करती है जिन पर यह अधिनियम लागू नहीं किया गया है। धारा 4 यह अनिवार्य करती है कि किसी स्थापना में सेवाओं और पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा की जाने वाली सभी नियुक्तियाँ उसमें विनिर्दिष्ट रीति से विनियमित की जाएँगी। उपलब्ध रिक्तियों में से 50% खुली योग्यता श्रेणी से भरी जाएँगी और 50% आरक्षित श्रेणी से। आरक्षित वर्गों के लिए निर्धारित उक्त 50% रिक्तियों में विभिन्न आरक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों का विभाजन, अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, निम्न प्रकार होगा :

(क) अनुसूचित जातियाँ	14 %
(ख) अनुसूचित जनजातियाँ	10 %
(ग) अत्यंत पिछड़ा वर्ग	12 %
(घ) पिछड़ा वर्ग	8 %
(ङ) आर्थिक रूप से पिछड़ी महिला	3 %
(च) आर्थिक रूप से पिछड़े	3 %
कुल	50 %

अधिनियम की धारा 5 में यह उपबंध किया गया है :

"*आरक्षण नीति की समीक्षा* — (1) यह राज्य सरकार का कर्तव्य होगा कि वह अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को राज्य की सभी संस्थाओं की विभिन्न सेवाओं एवं पदों में, जैसा कि धारा 2 के खंड (ग) और (घ) में परिभाषित है, धारा 4 के अंतर्गत विभिन्न आरक्षित वर्गों के लिए निर्धारित अनुपात में प्रतिनिधित्व दिलाने का प्रयास करे।

(2) राज्य सरकार प्रत्येक दस वर्ष के पश्चात अपनी आरक्षण नीति की समीक्षा करेगी :

परंतु, उपधारा (2) के अंतर्गत किया गया प्रत्येक आदेश, यथाशीघ्र, राज्य विधानमंडल के समक्ष उसके सत्र में कुल चौदह दिनों की अवधि के लिए रखा जाएगा, चाहे वह अवधि एक ही सत्र में पूर्ण हो अथवा दो लगातार सत्रों में।"

उक्त अधिनियम में बाद में अधिनियम संख्या XI, 1993 द्वारा संशोधन किया गया, जिसके द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ धारा 4 की उपधारा (2) को प्रतिस्थापित कर आरक्षण के प्रतिशत की सीमा निर्धारित की गई। इसी प्रकार धारा 4 की उपधारा (6) के खंड (ग) को प्रतिस्थापित कर यह विनिर्दिष्ट किया गया कि आरक्षित वर्गों में उपयुक्त अभ्यर्थियों की अनुपलब्धता की स्थिति में रिक्तियों को किस प्रकार भरा जाएगा। धारा 4 की उपधारा (6) के खंड (ङ) को प्रतिस्थापित कर यह उपबंध किया गया :

"(ङ) यदि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अत्यंत पिछड़े वर्गों और पिछड़े वर्गों एवं पिछड़े वर्गों की महिलाओं के अपेक्षित संख्या में अभ्यर्थी आरक्षित रिक्तियों को भरने हेतु उपलब्ध नहीं होते हैं, तो केवल अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अत्यंत पिछड़े और पिछड़े वर्गों एवं पिछड़े वर्गों की महिलाओं के सदस्यों के लिए, जैसा भी मामला हो, केवल बैकलॉग रिक्तियों को भरने के उद्देश्य से पुनः विज्ञापन जारी किया जा सकता है।"

अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों का संयुक्त रूप से अवलोकन करने पर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह न्यायिक सेवा की स्थापना पर भी लागू होता है, और केवल "न्यायालय के कार्यालय या विभाग पर, स्वयं न्यायालय को छोड़कर" लागू नहीं होता, जैसा कि आक्षेपित निर्णय में कहा गया है। अधिनियम की धारा 2(ग) और 2(न) में "स्थापना" तथा "राज्य" की परिभाषाओं को देखते हुए कोई अन्य व्याख्या संभव नहीं है। उच्च न्यायालय का यह

कहना सही नहीं था कि उक्त वैधानिक भाषा एक से अधिक व्याख्याओं के लिए सक्षम थी और इसलिए ऐसी व्याख्या अपनाई जानी चाहिए जो न तो असंगत हो और न ही अव्यावहारिक। न्यायालय का दायित्व है कि वह विधि की ऐसी व्याख्या करे जो यथासंभव न्याय और तर्क के अनुकूल हो। किसी विधि की व्याख्या करते समय न्यायालयों को स्वयं उस विधि की अंतर्निहित नीति तथा उससे प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य को ध्यान में रखना होता है। इस न्यायालय ने *नसिरुद्दीन बनाम राज्य परिवहन अपीलीय न्यायाधिकरण, ए. आई. आर. (1967) एस. सी. 331* में यह प्रतिपादित किया था :

> "यदि प्रयुक्त शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध हैं, तो उनकी सामान्य अर्थ में ही व्याख्या की जानी चाहिए। केवल इस कारण कि किसी विधि के परिणाम अन्यायपूर्ण हो सकते हैं, न्यायालय को उसे प्रभावहीन करने का अधिकार नहीं मिल जाता। यदि किसी अधिनियम के शब्दों की दो भिन्न व्याख्याएँ संभव हों, तो न्यायालय उस व्याख्या को अपनाएगा जो न्यायसंगत, युक्तिसंगत और विवेकपूर्ण हो, न कि उस व्याख्या को जो इन गुणों से रहित हो। यदि किसी अधिनियम को उसके सामान्य अर्थ में पढ़ने से असंगत या अव्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होती हो, जबकि उसे ऐसे अर्थ में पढ़ने पर, जिसकी वह क्षमता रखता है, यद्यपि वह उसका सामान्य अर्थ न हो, कोई कठिनाई उत्पन्न न होती हो, तो उसे उसके सामान्य व्याकरणिक अर्थ के अनुसार पढ़ने का कोई कारण नहीं रहेगा। जहाँ शब्द स्पष्ट हों, वहाँ न्यायालय उनमें कोई परिवर्तन नहीं करेगा।"

आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा यह कहना सही नहीं है कि अपीलकर्ता राज्य के पक्ष में, इच्छित प्रकार से, अधिनियम की व्याख्या करना "न्यायिक सेवा को न केवल सचिवालय कर्मियों अथवा प्रशासनिक, कार्यपालिका, मंत्रिपरिषद और विधानमंडल के समकक्ष रख देने के समान होगा, बल्कि उनके अपने कर्मचारियों के बराबर भी कर देगा। यह सर्वोच्च

न्यायालय द्वारा अखिल भारतीय न्यायाधीश मामला (उपरोक्त) में प्रतिपादित विधि के विपरीत होगा।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस निष्कर्ष पर पहुँचने में उच्च न्यायालय इस तथ्य से भी प्रभावित और प्रेरित हुआ कि उसके समक्ष यह कथन किया गया था कि आरक्षण अधिनियम के प्रावधानों को बिहार अधीनस्थ न्यायिक सेवा, अर्थात् जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य न्यायिक अधिकारियों की भर्ती के संबंध में, दीपक कुमार सिंह और अन्य के मामले में *अधिकारातीत* घोषित कर दिया गया था। यदि उच्च न्यायालय द्वारा धारा 4 की की गई व्याख्या स्वीकार कर ली जाए, तो वह न केवल बिहार अधिनियम संख्या 3, 1992 के उद्देश्य और प्रयोजन को विफल कर देगी, बल्कि संविधान के भाग III में निहित तथा आगे भाग IV, अनुच्छेद 56 और अनुच्छेद 335 में उद्घोषित संवैधानिक आदेश के भी प्रतिकूल होगी।

अतः यह माना गया कि उच्च न्यायालय ने विधि की त्रुटि की, जब उसने न्यायिक सेवा पर लागू होने की सीमा तक उक्त अधिनियम को *अधिकारातीत* घोषित किया तथा उसकी विभिन्न धाराओं की व्याख्या के संबंध में भी त्रुटि की। फलस्वरूप, इन अपीलों को स्वीकार किया जाता है और उनमें पारित आक्षेपित निर्णयों को निरस्त किया जाता है। साथ ही उत्तरदाताओं को यह निर्देश दिया जाता है कि वे लागू सेवा नियमों तथा आक्षेपित अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार रिक्तियों को भरें, किन्तु इस न्यायालय के आदेशों के आधार पर आज तक की गई नियुक्तियों को विचलित किए बिना। न्यायिक सेवा के सदस्यों की वरिष्ठता, लागू सेवा नियमों तथा अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार निर्धारित की जाएगी, और आरक्षण के आधार पर चयनित अभ्यर्थियों को आरक्षित कोटे में समायोजित किया जाएगा, तथा ऐसा करते समय कोटा और रोटा नियम को ध्यान में रखा जाएगा, जैसा कि इस न्यायालय ने अपने दिनांक 16.11.1995 के आदेश में विशेष रूप से इंगित किया था। व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं। अनुमति प्रदान की जाती है।

दीवानी अपीलें, बहुमत के मत के अनुसार, मुख्य निर्णय में निहित संशोधनों और निर्देशों के अधीन, निरस्त की जाती हैं।

व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

एस.एम.

याचिकाएं निरस्त कर दी गईं।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।